आमुख

भारतीय पत्रकारिता आज एक विशेष स्थिति में पहुँच गई है। पत्र-प्रकाशन अब व्यवसाय की कोटि में आ गया है। इसका प्रभाव परोक्ष रूप से पत्रकारों के विचारों पर भी पड़ रहा है। यह स्वाभाविक भी है। जब किसी व्यवसाय का आर्थिक लाभ को दृष्टि में रखकर उद्योगीकरण हो, तब उससे सम्बद्ध समस्त अंगों को प्रतिफल की उचित मात्रा की प्राप्ति का अधिकार होना ही चाहिए। किन्तु यह स्थिति और तज्जनित समस्या नयी है। भारतीय पत्रकारिता, विशेषतः हिन्दी-पत्रकारिता, का अब तक का सम्पूर्ण इतिहास उत्सर्ग, देश-प्रेम और न्याय के लिए संघर्ष का इतिहास रहा है। पत्रकार जीविकोपार्जन के लिए नहीं, अपितु राष्ट्र-सेवा के लिए इस पथ का अनुसरण करते थे। उस युग के पत्रकारों का देश के स्वाधीनता-संग्राम में प्रशंसनीय योगदान रहा है। उनकी प्रेरणा निःसन्देह वर्त्तमान पीढ़ी के व्यक्तियों के लिए अपना जीवन-क्रम निर्धारित करने में सहायक होगी।

लेखक ने जिन तीन पत्रकार-प्रवरों की संक्षिप्त जीवनियाँ इस संकलन में दी हैं, वे हमारी पत्रकारिता के मूर्त्तिमान् इतिहास हैं। इस कला को उन्होंने उसके आदि काल से ही रूप और दिशा प्रदान की है। भौतिक प्रलोभनों की सदा उपेक्षा करते हुए किस प्रकार ये तीनों पत्रकार महारथी अपने कर्म-क्षेत्र में अडिग आस्था के साथ सक्रिय रहे,

उसका यह संक्षिप्त वर्णन पाठकों के लिए रुचिकर और स्फूर्तिदायक सिद्ध होगा, इसमें सन्देह नहीं। छोटी-छोटी घटनाओं का उल्लेख करके लेखक ने अपने वर्ण्य विषय में रोचकता उत्पन्न की है। मैं आशा करता हूँ, इस युग को पत्रकारिता और पत्रकारों के सम्बन्ध में अधिक विस्तृत जानकारी प्रकाश में लाने की ओर हमारे समर्थ लेखक प्रवृत्त होंगे।

लखनऊ, जुलाई ६, १९५८ } **कमलापति त्रिपाठी**
(शिक्षा, सूचना एवं गृह मंत्री, उत्तर प्रदेश)

प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तक में तीन प्रमुख पत्रकार-कलाचार्यों का परिचय दिया गया है। लेखक ने उन तीनों आचार्यों को 'हिन्दी-पत्रकारिता की बृहत्त्रयी' कहकर परिचित कराया है। हिन्दी-पत्रकारिता के इतिहास में तीनों आचार्यों की साहित्य-सेवा स्वर्णवर्णाङ्कित है। तीनों सज्जन वयोवृद्ध, बहुश्रुत विद्वान्, लब्धप्रतिष्ठ तथा यशस्वी हैं। तीनों महानुभावों में केवल पराड़करजी ही इस संसार में नहीं हैं। तीनों वृद्धवसिष्ठ सम्पादकाचार्य सुदीर्घ काल तक हिन्दी-पत्रकारिता की गौरव-वृद्धि करते रहे। इनका त्याग और अध्यवसाय, इनकी तपस्या और देश-भक्ति, इनकी साधना और लगन आधुनिक युग के पत्रकारों के लिए अनुकरणीय आदर्श है। लेखक ने इन तीनों का सम्मिलित रूप में सादर स्मरण करके वास्तव में अभिनंदनीय कार्य किया है।

पराड़करजी तो धरा-धाम छोड़ ही गए, उनसे साहित्यिक संस्मरण नहीं लिखवाए जा सके। गर्देजी और वाजपेयीजी से भी संस्मरण लिखवाने की चिंता किसी प्रकाशक को नहीं है। हिन्दी के प्रकाशकों में सूझ-बूझ होती तो हमारी साहित्यिक निधियाँ लुप्त न होने पातीं।

हिन्दी-पत्रकारिता के इतिहास में कई स्वनामधन्य सम्पादक अमर हो चुके हैं। स्वर्गीय सज्जनों में जो चिरस्मरणीय हैं, उनमें से कुछ के नाम इस समय सहसा स्मरण हो आए हैं। जैसे—सर्वश्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रेमघनजी, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी, सम्पादकाचार्य श्री रुद्रदत्त शर्मा, बालमुकुन्द गुप्त, अमृतलाल चक्रवर्त्ती, हरिकृष्ण 'जौहर', केशवराम भट्ट, महावीरप्रसाद-[illegible]वेदी, गणेश शंकर 'विद्यार्थी', कृष्णकांत मालवीय, सकलनारायण शर्मा, [illegible]न शर्मा, राधामोहन गोकुलजी, ईश्वरीप्रसाद शर्मा, नन्दकुमार-[illegible] पद्म सिंह शर्मा, माधवराव सप्रे, रघुवरप्रसाद द्विवेदी, मेहता-

लज्जाराम शर्मा, भगवानदास हालना, रामकृष्ण वर्मा, गोपालराम गह-मरी, मूलचन्द अग्रवाल, रामजीलाल शर्मा, रामरख सिंह सहगल, नव-जादिकलाल श्रीवास्तव, प्रेमचंद, ब्रजमोहन वर्मा, जीवानंद शर्मा, मातादीन-शुक्ल, स्वामी भवानीदयाल संन्यासी, चन्द्रबली पाण्डेय, रूपनारायण-पाण्डेय आदि ।

इन पत्र-पत्रिका-सम्पादकों की सेवाओं को हिन्दी-संसार भूलता जा रहा है । अतः इन सब की जीवनियों और सम्पादकीय रचनाओं का अनु-संधान और संग्रह तथा प्रकाशन होना अत्यावश्यक है । उसके बिना हिन्दी-पत्रकारिता का इतिहास अधूरा रहेगा ।

इसी तरह जीवित सम्पादकों में भी बहुतेरे ऐसे हैं जो पत्र-सम्पादन-कार्य से अवकाश ग्रहण कर चुके हैं अथवा जो अपनी कार्य-क्षमता के शिथिल होने से अब अधिकतर सम्पादन-सम्बन्धी निर्देशन-कार्य ही कर रहे हैं; पर उनकी सेवा और कला किसी तरह भुलाई नहीं जा सकती । ऐसे सम्पादकों में भी कुछ विद्वानों के नाम इस अवसर पर स्मरण हो आए हैं । जैसे– सर्वश्री बनारसीदास चतुर्वेदी, गोविन्द शास्त्री दुगवेकर, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', द्वारकाप्रसाद मिश्र, इन्द्र विद्यावाचस्पति, पदुम-लाल पुन्नालाल बख्शी, झाबरमल्ल शर्मा, हेमचन्द्र जोशी, दुलारेलाल-भार्गव, रामगोविन्द त्रिवेदी, वेंकटेशनारायण तिवारी, कमलापति त्रिपाठी, नंदकिशोर तिवारी, देवीदत्त शुक्ल, नन्ददुलारे वाजपेयी, सत्यदेव विद्यालंकार, सिद्धनाथ आगरकर, हरिभाऊ उपाध्याय, जगन्नाथप्रसाद मिश्र, राजवल्लभ-सहाय, बेचन शर्मा 'उग्र', निरंजन शर्मा 'अजित', पंडित माखनलाल चतुर्वेदी, हरिशंकर शर्मा, श्रीराम शर्मा, श्रीकृष्णदत्त पालीवाल, गुलाबराय, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', सुन्दरलालजी, रामवृक्ष बेनीपुरी, मातासेवक-पाठक, देवव्रत शास्त्री, ब्रजशंकर वर्मा, मोहन सिंह सेंगर, हनुमानप्रसाद पोद्दार, श्रीकान्त ठाकुर, देवेन्द्र सत्यार्थी, वंशीधर विद्यालंकार, लल्लीप्रसाद पाण्डेय आदि ।

मृत और जीवित सम्पादकों में अनेक विद्वानों के नाम निश्चय ही छूट गए होंगे। पर यहाँ लम्बी नामावली उपस्थित करना अभीष्ट नहीं, केवल इतना ही संकेत अभिप्रेत है कि नवयुग के जन-जागरण में जिन सम्पादकों का सहयोग उल्लेखनीय रहा अथवा अब तक है, उनकी सेवाओं का मूल्यांकन साहित्य-जगत् में निष्पक्ष भाव से होना चाहिए।

उपर्युक्त सभी हिन्दी-पत्र-पत्रिका-सम्पादकों की साहित्य-सेवा सर्व-विदित है। सम्प्रति उन सबका वर्गीकरण करके बृहत्त्रयी या लघुत्रयी के रूप में विश्लेषण करना असम्भव है। किन्तु जब दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों का पृथक्-पृथक् स्थान कभी निर्धारित किया जायगा, तब कदाचित् प्रत्येक कोटि में कम-से-कम दस-दस सम्पादकों का नामोल्लेख तो करना ही पड़ेगा। हिन्दी-साहित्य की वर्त्तमान प्रगति देखते हुए वह दिन बहुत दूर नहीं जान पड़ता जब पूर्वोक्त सम्पादकों की साहित्य-साधना का स्मरण बड़े आदर से किया जायगा।

हिन्दी के पत्र-सम्पादकों ने जनता की राष्ट्रीय चेतना को उद्बुद्ध करके भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम की सफलता में जो सहायता पहुँचाई है, उसका उल्लेख इतिहास में सम्मानपूर्वक किया जायगा, इसमें कोई संदेह नहीं। किन्तु यह खेद का विषय अवश्य है कि आज तक उनकी जीवनियाँ और लेखमालाएँ साहित्य-भाण्डार में संचित नहीं हो सकीं। यह पुस्तक उस दिशा में प्रथम प्रयास के रूप में प्रकट होकर भविष्य के लिए प्रेरणा देने वाली सिद्ध होगी।

कहते हैं कि लोकमान्य तिलक ने मराठी 'केसरी' में जितने सम्पादकीय लेख लिखे थे, सब का सुसम्पादित संग्रह मराठी-साहित्य की अमूल्य निधि के रूप में प्रकाशित हो गया है। वैसे ही गुजराती 'नवजीवन' में छपे महात्मा गांधी के लेखों का संग्रह भी गुजराती-साहित्य में प्रकाशित हो गया है। सुनने में आया है कि बंग-साहित्य-सम्राट् बंकिमचन्द्र के 'बंग-दर्शन' के सभी अङ्कों के नवीन संस्करण प्रकाशित किए गए हैं। हिन्दी

में केवल महात्मा गांधी और आचार्य द्विवेदीजी के ही कुछ सम्पादकीय लेख संगृहीत और प्रकाशित हुए हैं। आचार्य द्विवेदीजी ने अपने जीवन-काल में ही 'सरस्वती' के सम्पादकीय लेखों को चुनकर पुस्तक-रूप में प्रकाशित करा दिया था। एक प्रकार से उन्होंने ऐसे संग्रहों के प्रकाशन की आवश्यकता ही सुझाई थी। परन्तु उनका पथ-प्रदर्शन अभी तक समर्थ प्रकाशकों को भी प्रेरणा देने में असमर्थ दीखता है।

श्रद्धेय पराड़करजी ने 'आज' में और 'विद्यार्थी'जी ने 'प्रताप' में तथा प्रेमचन्दजी ने 'जागरण' और 'हंस' में जो सम्पादकीय लेख या नोट लिखे थे, उनमें से अनेक अत्यंत महत्त्वपूर्ण और चुनकर प्रकाशित करने योग्य हैं। ऐसे ही अन्यान्य प्रमुख सम्पादकों के भी विचार-पूर्ण लेखों के संग्रह उनके परिचय के साथ प्रकाशित किए जा सकते हैं। इस तरह के संग्रहों से आधुनिक युग के पत्रकारों को तो लाभ होगा ही, भावी पीढ़ी भी अपनी पूर्व-परम्परा की महिमा-गरिमा समझने में समर्थ होगी।

आशा है कि गुप्तजी की यह पुस्तक इस क्षेत्र में शोध करने के लिए अनुसंधानशील लेखकों को प्रोत्साहन देगी और हिन्दी के समर्थ पुस्तक-प्रकाशकों को साहित्य की लुप्त-प्राय निधि का उद्धार करने में प्रयत्नशील करेगी, जिससे हिन्दी-पत्रकारिता के इतिहास का निर्माण करनेवाले सम्पादकों के सम्बन्ध में ज्ञान-वर्द्धक और विचारोत्तेजक साहित्य तैयार हो सकेगा।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्,
पटना, गुरुपूर्णिमा, शकाब्द १८८०

शिवपूजनसहाय

भूमिका

पत्रकार बृहत्त्रयी—श्रद्धेय वाजपेयीजी, स्व० पराड़करजी और बन्धुवर गर्देजी—के रेखाचित्रों की भूमिका लिखने का उत्तरदायित्व किसी एक व्यक्ति पर नहीं, वरन् एक मित्र-मण्डली पर पड़ना चाहिए था, जिसमें इन तीनों सम्पादकाचार्यों के भूतपूर्व सहायक, शिष्य और भक्त भी सम्मिलित होते। हिन्दी-पत्रकारिता के इतिहास की दृष्टि से इन तीनों महानुभावों का कार्य-काल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है और उसका विधिवत् अध्ययन तथा विश्लेषण दो-चार दिन का काम नहीं। इनकी समकालीन एक अन्य त्रिमूर्त्ति—द्विवेदीजी, पद्म सिंहजी और गणेशजी का क्षेत्र भी एक विस्तृत अन्वेषण का विषय है। किसी एक पत्रकार से यह उम्मेद करना कि वह अपने व्यस्त जीवन में से समय निकाल कर इस त्रिमूर्त्ति के प्रति न्याय कर सकेगा, उस पर एक प्रकार की प्रेम-पूर्ण ज्यादती है और मैंने इस ज्यादती को केवल इसी कारण सहन कर लिया है कि मैं उक्त बृहत्त्रयी का वर्षों से कृपापात्र रहा हूँ और कृतज्ञता का यह तकाजा है कि उनको श्रद्धांजलि अर्पित करने का कोई मौका अपने हाथ से न जाने दूँ।

श्रद्धेय पं० अम्बिकाप्रसादजी वाजपेयी चालीस वर्षों से मेरे लिए गुरु-तुल्य पूज्य रहे हैं। प्रवासी भारतीयों के प्रति प्रेम उत्पन्न करने में उनके द्वारा 'भारतमित्र' का जबरदस्त हाथ था और उसी पत्र के एक लेख ने सन् १९१४ में मेरा परिचय फिजी से लौटे हुए पण्डित तोतारामजी-सनाढ्य से कराया था। श्रद्धेय वाजपेयीजी ने सन् १९१८ में मेरी पुस्तक 'प्रवासी भारतवासी' की भूमिका लिखी थी।

स्वर्गीय पराड़करजी से भी मुझे बराबर प्रोत्साहन मिला। 'आज' के कॉलम मेरे लिए बराबर खुले रहे और मेरे लेखों के लिए वे निरन्तर पुरस्कार

भेजते रहे। नागपुर-कांग्रेस का अधिवेशन मैं पराड़करजी द्वारा भेजे गए ५१) इक्यावन रुपयों की मदद से ही देख सका। यही नहीं, उन्होंने बाबू शिवप्रसादजी गुप्त से अनुरोध करके पचास रुपए महीने की आर्थिक सहायता भी मुझे दिलवाई। वह सहायता तब तक के लिए थी, जब तक कि मुझे कोई नौकरी न मिल जाय। उन दिनों मैं गुजरात-विद्यापीठ की लगी-लगाई नौकरी छोड़कर घर पर ही महकमा बेकारी में काम कर रहा था—यानी 'स्वतन्त्र पत्रकार' था। उस अयाचित सहायता से मुझे आश्चर्य हुआ था। बहुत वर्षों बाद मुझे मालूम हुआ कि श्रद्धेय पराड़करजी और आदरणीय श्रीप्रकाशजी ने मेरे विषय में गुप्तजी से कहा था। इन दोनों महानुभावों ने अपनी इस कृपा को गुप्त ही रखा था। अकस्मात् बातचीत होने पर ही मुझे उस रहस्य का पता लगा।

बन्धुवर गर्देजी के साथ तो एक ही मकान मैं कई महीने साथ-साथ रहने का सुअवसर मुझे मिल चुका है। उन दिनों की बात मैं कभी नहीं भूल सकता जब कि उनके संक्षिप्त तथा शिष्ट हास्य नित्य-प्रति ही सुनने को मिलते थे। वैसे श्री गर्देजी के साथ पत्र-व्यवहार तो सन् १९१४ से चल रहा था और 'नवनीत' में उन्होंने मेरी एक चिट्ठी श्री सम्पूर्णानन्दजी की एक कविता के साथ छापी थी और इस प्रकार मेरा—उनका परिचय कराने में मदद दी थी। यदि इन तीनों महानुभावों ने आत्मचरित लिख दिए होते तो हिन्दी-पत्रकार-कला के इतिहास में वे निश्चय ही अमूल्य सामग्री सिद्ध होते, पर अत्यन्त व्यस्त सम्पादकीय जीवन में से साहित्य-सेवा के लिए वक्त निकाल लेना बहुत ही कठिन कार्य है—एक प्रकार का योग है, जिसमें सुप्रसिद्ध विदेशी पत्रकार जे० ए० स्पैण्डर ही सफल हो सके। दैनिक पत्र का भूत जिनके सिर पर सवार हो, उनसे सृजनात्मक साहित्य की आशा ही क्या की जा सकती है और वह भी हिन्दी-जगत् के उस युग में, जब दो-तीन सहायकों की मदद से ही दैनिक पत्र सम्पादन करने पड़ते थे। एक समय आवेगा, जब हिन्दी-संसार उन बहुमूल्य सेवाओं का उचित मूल्यांकन

कर सकेगा, जो विभिन्न क्षेत्रों में इस बृहत्त्रयी द्वारा की गई हैं और इसी-लिए हम इस पुस्तिका के लेखक श्री गौरीशंकर गुप्त को हार्दिक बधाई देते हैं कि उन्होंने उस मूल्यांकन के लिए क्षेत्र तैयार कर दिया है। अब आवश्यकता इस बात की है कि 'पराड़कर-स्मृति-भवन' शीघ्र-से-शीघ्र बन-कर तैयार हो जाय और वहाँ इस बृहत्त्रयी-सम्बन्धी सम्पूर्ण मसाला एकत्र कर दिया जाय। ज्यों-ज्यों दिन गुजरते जाते हैं, इस विषय की महत्त्वपूर्ण सामग्री नष्ट होती जाती है।

श्रद्धेय पराड़करजी तो चले गए, पर हमारे सौभाग्य से पूज्य वाजपेयीजी तथा बन्धुवर गर्देजी अपना प्रेरणामय आशीर्वाद देने के लिए विद्यमान हैं और यदि उन्हें समय तथा सुविधा मिल जाय तो यह कार्य वे सरलता से कर सकते हैं। बिहार की 'राष्ट्रभाषा-परिषद्' इन दोनों महानुभावों के तीन-तीन व्याख्यान पटने में करा सकती है और फिर वे पुस्तकाकार में छपाए भी जा सकते हैं। इससे बढ़कर दुर्भाग्य और क्या हो सकता है कि संपूर्ण देश में एक भी ऐसा पत्रकार-विद्यालय नहीं, जहाँ राष्ट्रभाषा-द्वारा शिक्षा दी जाती हो। होना तो यह चाहिए था कि उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश और राज-स्थान में एक-एक पत्रकार-विद्यालय होता और तब इन दोनों आचार्यों की सेवाओं से उचित लाभ उठाया जा सकता था। श्रद्धेय वाजपेयीजी ने हिन्दी-पत्रकार-कला का इतिहास लिखकर भावी विद्यालय के लिए एक पाठ्य पुस्तक अवश्य तैयार कर-दी है। तदर्थ हम सब उनके ऋणी हैं।

जहाँ तक हमें स्मरण है, सब से पहले हमारी ही प्रार्थना पर इन दोनों सज्जनों ने अपने अनुभव 'विशाल भारत' के लिए लिखने प्रारम्भ किए थे जो काफी आकर्षक और शिक्षाप्रद बन पड़े थे। श्रद्धेय वाजपेयीजी के ये अनुभव सन् १९३१ के सितम्बर, अक्तूबर और नवम्बर के अंकों में छपे थे और बन्धुवर गर्देजी ने अपना 'सम्पादकीय आत्मपरीक्षण' अक्तूबर सन् १९३१ में प्रारम्भ किया था। इन दोनों ही महानुभावों ने अपने साथी और सुहृद पं० पद्मसिंहजी शर्मा के जो संस्मरण 'विशाल भारत' के लिए

लिखे, वे भी संस्मरण-साहित्य में उच्च स्थान पाने के योग्य हैं। यदि ये दोनों महानुभाव विलायत में उत्पन्न हुए होते तो अंग्रेजी-प्रकाशक इनसे अपने अनुभव लिखाकर प्रकाशित करने में बड़ा गौरव समझते। पर इस देश के हिन्दी-प्रकाशकों में कल्पना-शक्ति का पूर्ण रूप से अभाव है और वे प्रति मास दर्जनों वृथापुष्टपोथे (यह शब्द स्व० पं० पद्मसिंहजी का है) छपाते रहते हैं, जब कि महत्त्वपूर्ण अलिखित ग्रन्थों की ओर उनका बिलकुल ध्यान नहीं है।

गर्देजी की विनम्रता तथा संकोचशीलता से हम भली भाँति परिचित हैं और उनके इस तर्क में कि "जीवन तो अनादि है और आत्मा अविनाशी है, इसलिए आत्मचरित अपूर्ण होगा।" हमें उनकी दार्शनिक प्रवृत्ति के दर्शन अवश्य होते हैं, पर उससे साहित्य-जगत् की भयंकर हानि हो सकती है; क्योंकि तदनुसार चलने से जीवनचरितों और आत्मचरितों का तो बिलकुल ही खातमा हो जायगा और अनेक लेखकों की जीविका ही जाती रहेगी। मेरे आग्रह पर कई बार गर्देजी ने स्मृति-समुद्र के तट पर खड़े होकर कई गोते लगाए थे और जिन रत्नों को वे बाहर लाए थे, उन्हें मैंने सुरक्षित कर लिया था। उनका एक वाक्य पढ़ लीजिए और उनकी कलम की दाद दीजिए—

"पं० पद्मसिंहजी की किन-किन बातों का स्मरण करूँ? गम्भीर गार्हस्थ्य का परिचय देने वाली उनकी काश्मीरी टोपी, हृदय-रस-पान करने वाले उनके नेत्र, बुजुर्गों की-सी उनकी मूँछें, वाणी की प्रगल्भता दिखाने वाले उनके होंठ, राष्ट्रीय भावों से भरा हुआ उनका पहनावा, सादे जीवन का साथी उनका अँगोछा, बगल में पोथी-पत्रों का उनका पोथा, नख से शिख तक महाराष्ट्रीय भाव-भरा उनका रूप-रंग मेरे लिए तो मुग्ध करने वाला एक मूक काव्य ही था। वह काव्य आज स्मृति-समुद्र बन गया है। मैं उसके तट पर खड़ा हूँ। उनका स्मरण आता है। उनकी मूर्त्ति सामने आ जाती है..........।"

गर्देजी के जीवन का प्रारम्भ से ही एक दृष्टिकोण रहा है और उसे उन्होंने 'नवनीत' के प्रथम अंक में इस प्रकार प्रकट किया था—

"आर्य जीवन की अग्नि पाश्चात्य सम्पर्क से प्रज्ज्वलित हो उठी है और भारतवर्ष का सुदिन दूर नहीं है। पाश्चात्य समृद्धि ने भारतवर्ष को मोहित कर पराक्रम दिखाने की ओर झुकाया है। इस समय भारतवर्ष की पराक्रमेच्छा से उसकी आदर्श-च्युति न होने देना ही बुद्धिमानों का कर्त्तव्य है। जागृति का समय है, पराक्रम दिखाने का हौसला है। बहुत ठीक है, केवल आर्य-धर्म के व्यापक रूप की नींव पर यह पराक्रम होना चाहिए। भारतवर्ष के इतिहास की यह विशेषता है। यही भारतवर्ष का मिशन है। यह सामने रखकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के लिए पूर्वीय ज्ञान और पूर्वीय परम्परा के प्रकाश में पाश्चात्य कला-कौशल की अभिवृद्धि हो तो इस दुरवस्था से भारतवर्ष का बेड़ा पार हो।"

गर्देजी का यह कथन अब भी सामयिक है।

'नवनीत' बहुत अच्छा निकलता था, पर एजेन्टों की बेईमानी के कारण वह बन्द हो गया। वे उसका तीन हजार रुपया मार बैठे। गर्देजी अपनी अल्प आय में से भी बहुत दिनों तक 'नवनीत' का कर्ज अदा करते रहे। ऐसा ही कटु अनुभव इसके कई वर्ष पूर्व श्रद्धेय वाजपेयीजी को भी 'नृसिंह' में हो चुका था। ये अनुभव सितम्बर सन् १९३१ के 'विशाल-भारत' में छपे थे।

"अब प्रबन्ध की सुनिए। मैंने पहले ही बता दिया है कि मैं 'पीर, बवर्ची, भिश्ती, खर' सब कुछ था। रुपए का प्रबन्ध करना, पत्र के लिए कागज लाना, छपाना, प्रूफ देखना और डिस्पैच करना मेरा ही काम था। अवश्य ही मुझे पत्र पोस्ट-आफिस नहीं ले जाना पड़ता था; क्योंकि यह काम मेरे नौकर कन्हैया के जिम्मे था।"

आगे चलकर 'नृसिंह' के लिए वाजपेयीजी को कितना चिंतित होना

पड़ा, उसका मनोरञ्जक ('मनोवेधक' शब्द अधिक उपयुक्त होगा) उस लेख में पढ़ने को मिल सकता है।

किसी भी सहृदय सम्पादक के लिए पत्र मानस-संतान होते हैं और उनका विछोह अत्यन्त कष्टप्रद होता है और जहाँ आर्थिक जिम्मेवारी भी सम्पादक पर ही रहे—वही उस पत्र का माता-पिता हो—तो फिर यह वियोग और भी अखर जाता है। चूँकि मेरे ऊपर 'मधुकर' और 'विन्ध्य-वाणी' का आर्थिक बोझ नहीं था, इस कारण उनका विछोह मेरे लिए उतना दुःखदायक नहीं प्रतीत हुआ, जितना श्री वाजपेयीजी को 'नृसिंह' तथा 'स्वतन्त्र' का और गर्देजी को 'नवनीत' का हुआ होगा। श्रद्धेय वाजपेयीजी ने कहा है—

"स्वतन्त्र न बापू का अन्ध-भक्त था और न उनका विरोधी। वह उनके जन-आन्दोलन का बराबर समर्थन ही करता था और इस समर्थन के कारण उसको अकाल ही काल-कवलित होना पड़ा। यह उसकी स्वतन्त्र नीति का ही फल था कि उसकी मृत्यु पर किसी ने आँसू की एक बूँद तक नहीं गिराई। इसकी कोई शिकायत नहीं है। प्रसंगवश चर्चा कर दी गई है।"

श्रद्धेय वाजपेयीजी अपनी शिष्टता या उदारतावश भले ही शिकायत न करें, पर हिन्दी-पत्रकार-जगत् तथा हिन्दी भाषा-भाषी जनता के लिए यह घोर लज्जा का विषय है कि जिस पत्र ने दस-दस वर्ष तक लोक-हित का कार्य किया हो, और उसी के कारण जिसका बलिदान हो गया हो, उसके बन्द होने पर कोई खेद भी प्रकट न करे। दरअसल बात यह है कि कृतज्ञता नाम का गुण इस देश से प्रायः लुप्त ही हो गया है।

श्री गौरीशंकरजी गुप्त के हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं; क्योंकि उन्होंने इस छोटी-सी पुस्तिका में अनेक ऐसे तथ्यों का संग्रह कर दिया है, जिनसे जनता तो क्या, हम-जैसे पत्रकार भी परिचित न थे। श्रद्धेय वाजपेयीजी की साहित्य-सेवा का तो हमें कुछ-कुछ पता था, पर गर्देजी ने जो कार्य किया है,

उसका पूरा-पूरा ब्यौरा हम उनके निकट रहकर भी नहीं जान सके थे। यह आश्चर्य तथा खेद की बात है कि अब तक न तो जनता ने और न सरकार ने ही गर्देजी का उचित सम्मान किया। गर्देजी जैसे संतोषी-सच्चे ब्राह्मण को इसकी कोई शिकायत नहीं हो सकती, पर हम लोगों के लिए यह चिंतनीय विषय अवश्य है।

लेखक ने 'पराड़कर-स्मृति-भवन' की आवश्यकता की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है। उसकी नींव पराड़करजी के सुयोग्य शिष्य श्री कमलापति त्रिपाठीजी द्वारा रखी जा चुकी है और हमारे मुख्य मंत्री श्री सम्पूर्णानन्दजी भी पराड़करजी के महत्त्वपूर्ण कार्य से भली भाँति परिचित हैं। फिर इस श्राद्ध-कार्य में इतना विलम्ब क्यों हो रहा है? हमारा सुझाव है कि भवन-निर्माण की प्रतीक्षा न करके किराए के मकान में ही 'पराड़कर-भवन' का कार्य प्रारम्भ कर देना चाहिए। भवन जब बनेगा, तब बनता रहेगा, पर उसकी आत्मा का अवतरण या आह्वान तो हम लोग अभी से कर सकते हैं। पत्रकार-कला पर व्याख्यान-माला का प्रबन्ध करना कोई असंभव कार्य नहीं। अभी पाँच-सात हजार रुपए सरकार से लेकर और कुछ चन्दा करके इस व्याख्यान-माला का प्रारंभ किया जा सकता है, चित्रों का संग्रह किया जा सकता है और पत्रकारिता-सम्बन्धी ग्रंथ खरीदकर रखे जा सकते हैं। आवश्यक और महत्त्वपूर्ण मसाला जो दिनोंदिन नष्ट हो रहा है, पहले उसकी रक्षा होनी चाहिए। पत्रकारिता-अन्वेषण-विभाग की स्थापना यदि अभी हो जाय तो आवश्यक ग्रंथों तथा पत्रों की पुरानी फाइलों को इकट्ठा करने का काम तुरंत प्रारम्भ किया जा सकता है। अंग्रेजी में तो पत्रकार-कला-सम्बन्धी साहित्य काफी मिल सकता है—सुना है, इस विषय पर पाँच हजार ग्रंथ पाए जाते हैं—पर, हमारे यहाँ उसकी बहुत कमी है। अभी हमने श्री सम्पूर्णानन्दजी की सेवा में निवेदन किया है कि वे लखनऊ अथवा प्रयाग में स्वर्गीय चिंतामणिजी की स्मृति में 'चिंतामणि-पत्रकार-विद्यालय' की स्थापना करादें।

यह एक अत्यन्त आवश्यक कार्य है, जो बहुत पहले हो जाना चाहिए था। हमें दुःख तो तब होता है, जब हम देखते हैं कि जो शासक स्वयं पत्रकार रह चुके हैं, वे भी इस श्राद्ध-कार्य का वास्तविक महत्त्व नहीं समझते। सब से अधिक आश्चर्य की बात यह है कि ये लोग पत्रकारों से यह उम्मेद रखते हैं कि वे देश-हित-सम्बन्धी अनेक कार्यों में उन्हें भरपूर योग दें। जिनकी शिक्षा के लिए कानी कौड़ी भी खर्च नहीं की जाती, परन्तु उनसे उम्मेदें दुनिया भर की की जाती हैं।

हम निराशावादी नहीं हैं। जिस पत्रकार-कला की नींव हमारे देश में शिशिरकुमार घोष, मोतीलाल घोष, लोकमान्य तिलक, दुर्गाप्रसाद मिश्र, अमृतलाल चक्रवर्त्ती, महामना मालवीय, महात्मा गांधी, बालमुकुन्द गुप्त, महावीरप्रसाद द्विवेदी, गणेश शंकर विद्यार्थी, दयानारायण निगम, रामानंद चट्टोपाध्याय, के० नटराजन्, कालीनाथ राय, जी० बी० होर्नीमेन, मि०ब्रेल्वी, सी० वाई० चिंतामणि प्रभृति ने रखी, वह कभी-न-कभी तो पूर्णतया विकसित होकर ही रहेगी। इस पुस्तिका में वर्णित बृहत्त्रयी ने उसी परंपरा को आगे बढ़ाया है। आज न सही तो कल, उनके तप-त्याग-और बलिदान से सींचा हुआ यह कोमलकाय पौधा एक महान् वट-वृक्ष का रूप धारण करेगा, उसकी शाखाएँ इस विस्तृत देश के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में फैल जावेंगी और फिर सैकड़ों पत्रकार इस विशाल वट-वृक्ष की छत्र-छाया में आश्रय पाकर अपने को सफल, समर्थ एवम् सम्पन्न बना सकेंगे।

९९, नार्थ एवेन्यू,
नई दिल्ली

बनारसीदास चतुर्वेदी

पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी
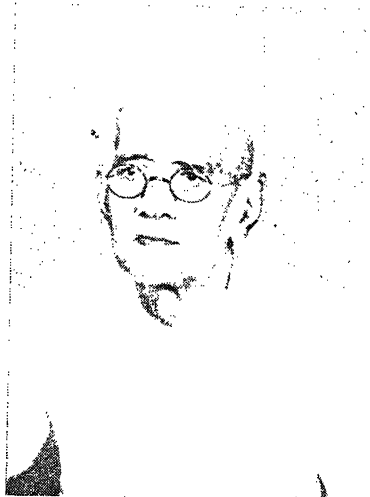
स्व० पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर

पं० लक्ष्मण नारायण गर्दे

पत्रकार बृहत्त्रयी

पंडित अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, स्व० पं० बाबूराव विष्णु-पराड़कर तथा पं० लक्ष्मण नारायण गर्दे—इन तीन समकालीन, वयोज्ञानवृद्ध सम्पादकाचार्यों की गणना 'हिन्दी-पत्रकारिता की बृहत्त्रयी' के रूप में की जाती है। भारतीय स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए हिन्दी-पत्रकारिता के माध्यम से की गई इनकी बहुमूल्य सेवाएँ चिरस्मरणीय रहेंगी, प्रकाश-पुंज बिखेरती रहेंगी। जनता की राष्ट्रीय चेतना को प्रबुद्ध करके स्वतंत्रता-संग्राम की सफलता में जो सहयोग इस बृहत्त्रयी ने दिया है, वह निःसन्देह अपूर्व है और इतिहास में इसका उल्लेख सादर किया जायगा। पत्रकार के नाते इन तीनों महानुभावों ने जेल-यात्रा की, अनेक संकट सहे, पर विचार-स्वातंत्र्य को नष्ट न होने दिया। स्वातंत्र्य संग्राम के ऐसे आदर्श सेनानियों को पाकर हिन्दी-पत्रकारिता धन्य, समुन्नत और गौरवान्वित हुई।

नवयुग के जन-जागरण में अनेक अन्य पत्रकारों का भी अमूल्य योग रहा है और उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती; पर त्रैमासिक, द्वैमासिक, मासिक, पाक्षिक, साप्ताहिक तथा अर्ध साप्ताहिक पत्रों की अपेक्षा दैनिक पत्रों से राष्ट्रीय आन्दोलनों में विशेष बल मिलता है और इस बृहत्त्रयी ने मुख्यतः अपने दैनिक पत्रों के द्वारा ही अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। दैनिक पत्रों के सम्पादन में यशस्वी होना साधारण बात नहीं और ये तीनों ऐसे ही यशस्वी और आदर्श पत्रकार रहे हैं। इसके अतिरिक्त इस बृहत्त्रयी

में स्व० पराड़करजी तथा गर्देजी—ये दो अहिन्दी भाषी पत्रकार हैं, जिनकी सेवाएँ हिन्दी-पत्रकारों से किसी प्रकार कम नहीं मानी जा सकतीं। इस सम्बन्ध में श्री रामनाथ 'सुमन' जी का यह कथन बिलकुल सत्य है—

"यह हिन्दी के लिए बड़े आश्चर्य और गौरव की भी बात है कि उसके पुराने पत्रकारों-उन्नायकों में सर्व श्री माधवराव सप्रे, अमृतलाल चक्रवर्त्ती, बाबूराव विष्णु पराड़कर, लक्ष्मण नारायण गर्दे, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, लज्जाराम मेहता जैसे अहिन्दी भाषी थे। कदाचित् यही उसकी राष्ट्रीयता या राष्ट्रीय भाषा होने का प्रमाण है। हर्ष की बात है कि गर्देजी आज भी, हमारे पथ-प्रदर्शन के लिए हमारे बीच विद्यमान हैं।"

विभिन्न मतावलम्बी होने पर भी इन तीनो महानुभावों का जैसा सहयोग राष्ट्र और राष्ट्रभाषा को प्राप्त हुआ, वह नए पत्रकारों तथा अहिन्दी भाषियों के लिए प्रेरणाप्रद है। वस्तुतः एक ही सद् उद्देश्य की पूर्ति के लिए इन तीनों महानुभावों ने प्रयास किया और इनकी सफलता का यही रहस्य है। यह भी संयोग की बात है कि इस बृहत्त्रयी का पारस्परिक वा व्यक्तिगत सम्बन्ध बहुत ही अपनत्त्वपूर्ण रहा है। काफी समय तक हमारी पुण्यपुरी काशी वा वाराणसी के पत्थरगली मुहल्ले में और कलकत्ते में भी इन लोगों का साथ रहा, सहयोग रहा। यद्यपि श्रद्धेय वाजपेयीजी इन दिनों लखनऊ में रहते हैं, तथापि पराड़करजी के अन्तिम क्षण उक्त मुहल्ले में ही बीते और गर्देजी तो स्थायी रूपेण वहाँ निवास ही करते हैं।

बृहत्त्रयी में वाजपेयीजी सबसे ज्येष्ठ और गर्देजी सबसे छोटे हैं। इन दोनों महानुभावों में प्रायः नौ वर्षों का अन्तर है। स्व० पराड़करजी वाजपेयीजी से तीन वर्ष छोटे और गर्देजी से ६ वर्ष ज्येष्ठ थे। इस प्रकार वाजपेयीजी को हम बृहत्त्रयी में सर्व प्रथम

मानते हैं। उनका स्थान देश की पत्रकारिता, विशेषतः हिन्दी-पत्रकारिता के क्षेत्र में अनुपम है। वह हिन्दी-पत्रकारों के पितामह माने जाते हैं। उन्होंने उस समय लेखनी उठाई थी, जब पत्रकारिता एवं हिन्दी का क्षेत्र संकुचित था। उस समय उन्होंने हिन्दी को स्वर दिया, गति दी और दी दिशा। इतना ही नहीं, उन्होंने सारे जन-समाज में चेतना उत्पन्न की और स्वतंत्रता का पथ दिखलाया। दूसरे शब्दों में वाजपेयीजी पुराने जमाने, साहित्य, पत्रकारिता, राजनीति और वर्तमान युग के बीच की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी हैं। उनकी जानकारी तत्कालीन इतिहास के लिए विशेष महत्त्व की है। उनकी लेखनी में ओज, विचारों में नवीनता और दृढ़ता है। उनके द्वारा हिन्दी की पत्रकार-कला का मस्तक ऊँचा हुआ है। वह एक तेजस्वी, प्रतिभाशाली और निर्भीक पत्रकार हैं। अपने जीवन में इन गुणों का उन्होंने दृढ़तापूर्वक परिचय दिया है। आधुनिक दैनिक पत्रों का मार्ग-दर्शन वाजपेयीजी ने ही किया था। सन् १९०५ में इस क्षेत्र में उन्होंने प्रवेश किया था और आज आधी शताब्दी से अधिक समय बीतने पर भी वह वही कार्य कर रहे हैं, यह कम महत्त्व की बात नहीं है। इतने वयोवृद्ध होते हुए भी उनके महत्त्वपूर्ण लेख समाचारपत्रों में प्रायः मिलते ही रहते हैं। इस प्रकार स्वतंत्र रूप से पत्रकारिता वा पत्र-सम्पादन-कार्य से अवकाश ग्रहण करने पर भी उनका निर्देशन हमें बराबर मिलता ही रहता है। उनकी सेवा ग्रंथ-प्रणयन की दृष्टि से भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उनके अनेक ग्रंथ-रत्नों से हिन्दी तथा अन्य भाषाओं के विविध क्षेत्रों का भण्डार समुन्नत और अलंकृत हुआ है।

श्रद्धेय वाजपेयीजी से मेरा परिचय कराने का श्रेय स्व० पराड़करजी को है। उनके प्रथम दर्शन मुझे लखनऊ में ६ या ७ मार्च '५२ को उनके निवास-स्थान पर हुए थे। उसके बाद तो अब तक कई बार

उनकी सेवा में घंटों रहने का सुअवसर मिला है। एक बार जब मैंने उनसे फोटोग्राफ लेने का आग्रह किया, तब वह मुस्कराकर बोले—"अभी मैं मरूँगा नहीं, वैसे चित्र आप ले सकते हैं।" और सचमुच इस ७८ वर्ष की उम्र में भी उनका स्वास्थ्य और नियमित जीवन देखकर आश्चर्य होता है। १।१०।५५ के निम्नांकित कृपा-पत्र से उनकी सजगता और व्यस्तता की एक झलक मिलती है—

"आशीर्वाद।....इस समय हम बहुत व्यस्त हैं। चार वर्ष पहले एक पुस्तक लिखी थी। उसका संशोधन करना और अद्यतन (Up to date) करना—ये दोनों बड़े काम हैं। सहायक कोई नहीं है। पाँच-छ घण्टे नित्य इसी में जाते हैं। इससे पिण्ड छूटने पर एक और काम करना पड़ेगा—वह सिर पर खड़ा है। इस प्रकार तीन महीने व्यस्त रहना पड़ेगा। पेट कूटकर पीड़ा उत्पन्न कर ली है।"

अभी पिछली बार १२।१२।५७ को लखनऊ में मैंने उनके दर्शन किए। सायं ५ बजे का समय था। वाजपेयीजी चारपाई पर बैठे केला और दूध सेवन कर रहे थे। निकटस्थ चौकी पर बैठने का उन्होंने संकेत किया। इस बीच एक सज्जन दैनिक 'आज' का कोई अंक देखने आए। नौकर ने फाइल लाकर दी तो वाजपेयीजी मुझसे बोले—"कहिए, आप भी कोई अखबार चाहते हैं?" मैं मुस्कराया तो वाजपेयीजी ने ध्यानपूर्वक मुझे देखा और बोल उठे—"अरे बुढ़ापा तोरे मारे अब तो हम अकुलाय गए!" और हँसने लगे।

बातचीत के प्रसंग में गर्देजी की चर्चा आई तो बोले—"वह दस साल पहले ही बूढ़े हो गए थे। मैं तो अभी दस-बीस वर्ष जीने की तैयारी कर रहा हूँ।" 'संस्मरण' शब्द के संबंध में चर्चा करने पर वाजपेयीजी बोले—"आपका दृष्टिकोण ठीक है। जीवितों

के लिए 'संस्मरण' शब्द का प्रयोग किया जाना चाहिए। हम लोगों में एक दुर्बलता है—शब्द का अर्थ बढ़ा नहीं पाते।"

वाजपेयीजी ने बताया—"तुर्की वालों ने मुझसे कहा—आपका नाम ताश्कन्द में सुना था। हम कुछ बोल नहीं सके। बड़ा आश्चर्य हुआ।"

आधुनिक पत्रकारिता की चर्चा करते-करते वाजपेयीजी बहुत गम्भीर हो जाते हैं। उनका यह कथन कितने मार्के का है—

"हिन्दी के पत्र लेखक को पारिश्रमिक देने योग्य हो गए हैं, परन्तु उनकी दृष्टि अभी तक संकुचित-सी ही है। इसलिए अच्छे लेख कम ही देखे जाते हैं। मैं प्रायः मुफ्त में ही लेख लिख दिया करता था। परन्तु मुझसे कलकत्ता-विश्वविद्यालय के पं० ललिता-प्रसाद सुकुल ने आग्रह किया और प्रतिज्ञा कराई कि बिना पारि-श्रमिक लिये लेख न लिखा करूँगा। मैंने प्रायः तब से सावधानी से इस प्रतिज्ञा का पालन किया है। परन्तु फिर भी पत्र वालों की दृष्टि विशाल न होने के कारण लेख छप जाने पर उचित पारिश्र-मिक देने वाले पत्र कम ही देखे जाते हैं। कोई आधा देता है, तो कोई पौना। पूरा देने वाले विरले ही मिलते हैं। और, एक पत्र वाले ने तो मेरे कई लेख मार दिए। कुछ पुराने करके लौटा दिए और कुछ रद्दी की टोकरी में डाल रखे। यह विचार नहीं किया कि हम लेखक की कितनी हानि कर रहे हैं। प्रोत्साहन के बदले लेखक को हतोत्साह करने से समाचारपत्रों की कितनी हानि होती है, यह उनकी समझ में नहीं आता। इसे हिन्दी का दुर्दैव ही मानना पड़ता है।"

वाजपेयीजी 'मूड' में थे। काफी देर तक बातें हुईं। जब मैं चलने लगा तो वह बोले—"हमको भी बात करने का कुछ खब्त है।"

बृहत्त्रयी में दूसरा नाम स्वर्गीय पराड़करजी का है। 'आज' के माध्यम से पत्रकारिता के क्षेत्र में रहकर सेवा करने का उनको सर्वाधिक अवसर मिला। 'आज' के द्वारा पत्रकारिता का जैसा उच्च आदर्श उन्होंने उपस्थित किया, वह सर्वथा वंदनीय है। प्रायः लोग हिन्दी-पत्रों के अग्रलेखों में तथ्याभाव की शिकायत किया करते हैं; किन्तु पराड़करजी ने सदा तथ्य-पूर्ण तर्कों द्वारा अपने निर्भीक और स्वतंत्र विचारों को सामने रखा। पांडित्य-पूर्ण गंभीर लेखन-शैली होने के कारण उनके द्वारा हिन्दी-पत्रकारिता का स्तर बहुत ऊँचा हुआ। उन्होंने साहित्य ही नहीं, साहित्यकारों और सुयोग्य पत्रकारों का निर्माण किया। वह प्रचार से बिलकुल दूर रहकर राष्ट्र तथा राष्ट्रभाषा की सेवा और साहित्य के उन्नयन में अंतिम क्षणों तक संलग्न रहे, हिन्दी और हिन्दी-पत्रकारिता का मार्ग-प्रदर्शन करते रहे, सहयोगियों को परामर्श देते रहे। हिन्दी-प्रेम का इससे अधिक और क्या प्रमाण होगा कि उन्होंने उस अंतिम रात्रि को भी एक अहिन्दी भाषी विद्यार्थी को हिन्दी में शोध करने के लिए आवश्यक सुविधाएँ मिलें, इस संबंध में हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष आचार्य डा० हजारीप्रसादजी द्विवेदी के नाम पत्र लिखा। उनके दाह-संस्कार के समय मणिकर्णिका घाट पर डोम-चौधरी ने रुपया-पैसा लेने से बिलकुल इन्कार करते हुए कहा था—"मैं धन नहीं, विद्या-दान चाहता हूँ। ऐसे महापुरुष के लिए लाखों रुपए तुच्छ हैं!"

श्री 'सुमन'जी के शब्दों में—"उनमें प्रबलता, भावावेश, शक्ति का उन्मेष नहीं था। यह उनकी शैली का दोष कहा जा सकता है। पर यह दोष ही उनका गुण था। उनमें एक अपूर्व स्थिरता, किसी समस्या की केन्द्रीय सत्य समझने की दृष्टि और अपनी बात को सरल-से-सरल रूप में कहने की शक्ति थी। वह पहाड़ों की

छाती तोड़कर बहने वाली अलकनन्दा या भागीरथी नहीं, मैदानों में बहने वाली गंगा थे। उन्होंने हिन्दी-पत्र-जगत् को अनेक नए शब्दों का दान किया, उसके लिए एक आदर्श शैली बनाई, अनेक युवकों को प्रशिक्षित किया। उनकी गंभीरता ही हमारी पत्रकार-कला की थाती है।"

पराड़करजी ने अपनी लेखनी कभी किसी मूल्य पर नहीं बेची, यह उनकी सब से बड़ी महत्ता है। वह केवल उच्च कोटि के पत्रकार ही नहीं, अपितु महान् देश-भक्त भी थे। पत्रकारिता के माध्यम से उन्होंने राष्ट्रभाषा हिन्दी की महान् सेवा की है। प्रत्यक्ष रूपेण इस कार्य के अतिरिक्त यथा समय अप्रकट तथा गुप्त रूप से किए गए उनके अनेक ऐसे कार्य भी हैं, जिनसे उनकी देश-भक्ति का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। दूसरे शब्दों में वह महान् क्रान्तिकारी पत्रकार थे।

एक बार पराड़करजी के दूर के रिश्ते में मामा, प्रसिद्ध पत्रकार और उनके गुरु-तुल्य श्री सखाराम गणेश देउस्करजी ने उनसे प्रश्न किया—"औरंगजेब अच्छा या अकबर?" पराड़करजी ने अकबर को अच्छा बताया। देउस्करजी के यह प्रश्न करने पर कि "क्यों?" पराड़करजी बोले—"इतिहास में यही लिखा है।" इस पर देउस्करजी ने उनको जो उपदेशामृत पान कराया, उससे उनका दृष्टिकोण ही बदल गया। उन्होंने पराड़करजी को कितना सुन्दर उपदेश दिया था—"ऐसा कहना ठीक नहीं है। अकबर की प्रशंसा करने वाले वे अंगरेज हैं जो उसकी नीति का अनुसरण कर शताब्दियों से हमारे देश को गुलाम बनाए हुए हैं। अच्छे-बुरे का निर्णय स्वयम् करना चाहिए। अकबर बदचलन था, जब कि औरंगजेब सदाचारी था। उसने अपने कार्य के द्रोहियों का ही संहार किया और कराया—शेष उसके लिए समान थे।" प्रश्नोत्तर

था परीक्षा के व्याज से कितने महत्त्व की बात हृदयंगम हो गई! बस, नवयुवक पराड़कर में यहीं से देश-भक्ति और राष्ट्रीयता की जो भावना उत्पन्न हुई, वह उनके जीवन-पर्यन्त रही।

सन् '३० केरा ष्ट्रीय आन्दोलन का वह युग था। उस समय 'आज' से जमानत माँगी गई थी और उसे देना अस्वीकार कर पराड़करजी ने सरकारी आर्डिनेन्स के विरुद्ध 'आज' का प्रकाशन स्थगित कर पहले 'आज के समाचार' और उसके भी बन्द कर दिए जाने पर साइक्लोस्टाइल पर 'रणभेरी' निकाली थी, जिसका पता लगाने में पुलिस के सारे प्रयत्न निष्फल हो गए और वह कुछ कर न सकी। पराड़करजी कहते थे—"हमारी लिपि देखकर पुलिस पकड़ सकती थी; पर यह बात उसके ध्यान में आई ही नहीं।" 'आज' के पुनः प्रकाशित होने पर भी वह राष्ट्रीय आंदोलन के समाचार ही मुख्य रूपेण 'आज' में प्रकाशित करते थे। तत्कालीन सत्याग्रहियों की सम्पूर्ण नामावली 'आज' में प्रकाशित करना उनके ही साहस की बात थी। इसी प्रकार कलकत्ते में उन्होंने अनेक गुप्त समितियों में सक्रिय भाग लेकर उनके माध्यम से ऐसे अनेक महान् क्रांतिकारी कार्य किए, जिनसे उनकी आदर्श देश-भक्ति का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। उन दिनों पराड़करजी ने गीता पर एक टीका लिखी थी, जिसके मुख पृष्ठ पर भारतमाता का चित्र था—जिसके एक हाथ में गीता और दूसरे में नंगी तलवार थी। उनकी गिरफ्तारी के साथ ही वह गीता भी अदृश्य कर दी गई थी। समय-समय पर क्रान्तिकारी दल वाले पराड़करजी की सलाहों से लाभान्वित होते थे। कारतूस गायब करने के संदेह में भी पराड़करजी को भीषण यंत्रणाएँ सहनी पड़ी थीं। इस प्रकार वह न केवल क्रांतिकारी, अपितु क्रांतिकारियों के निर्माता भी थे।

सन् '४२ की घटना है। एक पत्रकार-बंधु के पड़ोस में एक

मकान खाली था। उसमें कोई किराएदार आए। पूछने पर उन्होंने बताया—"मै बलिया का हूँ। इसमें सपरिवार रहता हूँ।" दो-तीन दिन बाद ही गुप्तचर-विभाग के कुछ कर्मचारी आए और वे उस मकान में पड़ोसियों को साथ लेकर घुसे। वहाँ का दृश्य कुछ और ही था। हर कमरे में दो-चार फरार लेटे थे। पूड़ी-कचौड़ी खाकर दोनों का ढेर लगा रखा था। उनमें कई काशी-विद्यापीठ के छात्र थे। गुप्तचर-विभाग वालों ने उन लोगों से पूछा—"यह मकान पराड़करजी ने ही किराए पर दिलाया है और वही आप सब की व्यवस्था करते हैं?" सब चुप रहे। और, यह सब चमत्कार सचमुच पराड़करजी का ही था!

'भारतमित्र' में कार्य करते हुए पराड़करजी क्रांतिकारियों के सम्पर्क में बराबर रहे और इसके फलस्वरूप सन् १९१६ से '२० पर्यन्त चार वर्ष उनको नजरबन्द रहना पड़ा। कलकत्ते के तत्कालीन डिप्टी पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट की हत्या में कोई हाथ न होने पर भी वह गिरफ्तार किए गए। बाद में कोई प्रमाण न मिलने के कारण छूट गए; पर पुनः नजरबन्द कर लिए गए। राजबन्दी के रूप में पराड़करजी चंद्रनगर के महेशकाल नामक टापू में, कलकत्ते में अलीपुर सेन्ट्रल जेल में, मेदिनीपुर केन्द्रीय कारागार में तथा हजारी बाग एवं बाँकुड़ा जिले के एक गाँव में साढ़े तीन वर्ष के लगभग नजरबन्द रखे गए। सरकार पराड़करजी को राजनीति से पृथक् होने की शर्त पर रिहा करना चाहती थी, पर वह भला इसे कैसे स्वीकार करते? अंत में सन् '२० में सभी बन्दियों के साथ वह मुक्त कर दिए गए। पराड़करजी कहते थे—"कलकत्ता मैं गुप्त समितियों में काम करने ही गया था, पत्रकार होने नहीं। पत्रकारिता तो मेरे गले पड़ी।"

पराड़करजी की तल्लीनता ऐसी थी कि उनको भोजन में

नमक-मिर्च के न्यूनाधिक का आभास तक नहीं होता था। वह सदा स्वाध्याय और लेखन में ही मग्न रहते थे। इसी कारण उनके मित्र उनको 'अरसिक' कहा करते थे, पर वह बुरा न मानकर केवल हँस देते थे। पराड़करजी कितने अध्ययनशील, विलक्षण स्मरण-शक्ति-सम्पन्न और मेधावी थे, इसका प्रमाण एक घटना से मिलता है—

वह स्थानीय नागरीप्रचारिणी सभा के आर्यभाषा पुस्तकालय से नित्य-नियमपूर्वक एक पुस्तक लेते और उसे पढ़कर लौटा दिया करते थे। एक दिन तत्कालीन पुस्तकालयाध्यक्ष (संभवतः स्व० पं० केदारनाथ पाठकजी) ने पराड़करजी से पूछा—"कुछ पढ़ते भी हो या लौटाने भर के लिए ले जाते हो ?" पराड़करजी बोले—"इस सप्ताह के भीतर पढ़ी हुई किसी भी पुस्तक के सम्बन्ध में पूछकर परीक्षा ले सकते हैं।" अपनी दृष्टि से उन्होंने पराड़करजी से क्लिष्टतम प्रश्न पूछा था और आप यह जानकर आश्चर्य करेंगे कि पराड़करजी ने न केवल उनके प्रश्न का उत्तर ही दिया, अपितु पुस्तक का सारा इतिहास भी बता दिया। प्रसन्न होकर पुस्तकालयाध्यक्ष महाशय ने आशीर्वाद देते हुए ठीक ही भविष्यवाणी की थी—"तुम्हारे द्वारा किसी दिन हिन्दी का मुख समुज्ज्वल होगा।" और, सचमुच केवल हिन्दी ही क्यों, हिन्दी-पत्रकारिता भी उनको पाकर गौरवान्वित हुई !

पराड़करजी की अध्ययनशीलता के सम्बन्ध में एक मनोरंजक घटना उनके बालमित्र श्रद्धेय पं० गोविन्द शास्त्री दुगवेकरजी के शब्दों में इस प्रकार है—

"एक दिन मैं रात के लगभग ८ बजे उनके घर पहुँचा तो क्या देखा कि एक हाथ में पानी भरा लोटा और दूसरे हाथ में लालटेन तथा बगल में किताब दबाए आप ऊपर से उतर रहे हैं। पूछा—

"कहाँ जा रहे हैं ?" बोले—"टट्टी।" "किताब क्यों लिए जा रहे हैं ?" "एकांत में शान्त चित्त से अध्ययन अच्छा होता है।" यह कहता हुआ मैं हँस पड़ा कि अध्ययन के लिए आपने स्थान तो बड़ा अच्छा चुना है !"

पराड़करजी अपने मित्रों में भी—जिनकी संख्या सीमित थी, ज्ञान-वर्द्धक चर्चा ही किया करते थे। व्यर्थ गप्प लड़ाना उनको अच्छा नहीं लगता था। वह समय का सदुपयोग बड़े ही सुन्दर ढंग से करना जानते थे। मैंने बराबर देखा कि वह भोर में ही कार्यालय पहुँच जाते, बीमार व्यक्ति का तापमान ठीक समय पर लिखते, चि० अशोक का टाइमटेबिल स्वयम् बनाते और उसे पढ़ाते। उनमें एक आदर्श पत्रकार के गुण थे। उनका विद्या-व्यसन अन्तिम क्षणों तक रहा। मैंने प्रायः उनको लिखते-पढ़ते ही देखा। मृत्यु के कुछ ही घंटे पूर्व तक वह 'चन्द्रकान्ता सन्तति' पढ़ते देखे गए। उनके मित्र उनको 'अरसिक' के साथ ही 'किताबी-कीड़ा' कहकर भी सम्बोधित करते थे। उनकी जिज्ञासा—अधिकाधिक ज्ञानार्जन करने की भूख—सदा बनी रहती थी। हनुमान् की भाँति उनको अपनी शक्ति की सुध-बुध नहीं थी। एक पत्रकार को सभी विषयों का अल्पाधिक ज्ञान अवश्य होना चाहिए—इस प्रवृत्ति के वशीभूत हो उन्होंने आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सुश्रुत-संहिता' का पारायण कर डाला था। इसी प्रकार वह होमियोपैथी, काम-शास्त्र तथा व्याकरण के मर्मज्ञ थे। पू० गर्देजी के सहयोग से काम-शास्त्र पर एक ग्रंथ लिखने की उनकी इच्छा उनके साथ ही चली गई। पूर्वीय देशों में राजनीति के विकास पर एक श्रेष्ठ ग्रंथ के प्रणयन का आरंभ उन्होंने किया था, पर वह अपूर्ण ही रह गया, ऐसा श्री रघुनाथ सिंहजी, एम० पी० ने बताया। उनके अनेक महत्त्वपूर्ण संस्मरण भी लिपिबद्ध न हो सके।

एक बार पराड़करजी अग्रलेख लिखने बैठे, पर लिखने के

लिए कोई विषय सूझ ही नहीं रहा था। दैनिक पत्र के सम्पादकों के सामने प्रायः ऐसी समस्या आ खड़ी होती है। इसी उलझन में काफी समय व्यतीत हो गया और प्रेस के भूत—कम्पोजीटर सर पर सवार थे। काफी झुँझलाहट के बाद पराड़करजी ने 'क्या लिखूँ ?' शीर्षक से ही अग्रलेख लिख डाला और संयोगवश वह कुछ इतना सुन्दर बन पड़ा कि स्व० आचार्य पं० महावीर-प्रसाद द्विवेदीजी ने उसे पढ़कर दूसरे ही दिन एक पत्र पराड़करजी को लिखा, जिसमें उक्त अग्रलेख की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की गई थी। द्विवेदीजी की गुणग्राहकता और पराड़करजी की विलक्षण प्रतिभा का इससे अधिक और क्या प्रमाण हो सकता है ?

ऐसा ही एक दूसरा प्रसंग है। उन दिनों जार्ज पंचम प्रिन्स आफ वेल्स के रूप में कलकत्ते आए थे। उस समय पराड़कर-जी ने 'भारतमित्र' में एक लेख लिखा था। ठीक उसी दिन 'अमृत-बाजार पत्रिका' के सम्पादक श्री मोतीलालजी घोष ने भी उसी विषय पर अपने पत्र में अग्रलेख लिखा। इन दोनों विद्वानों के लेखों में—विचारों तथा तर्कों में—आश्चर्यजनक समानता थी। एक बार मोती बाबू ने पराड़करजी के संबन्ध में 'ज्ञानमण्डल' के श्री देवनारायण द्विवेदीजी से कहा था—"पराड़करजी हिन्दी-पत्र के सम्पादक कैसे हो गए ? ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्ति को तो अंग्रेजी-पत्र का सम्पादक होना चाहिए था।"

सन् '३४ में काशी में आयोजित प्रदर्शनी के सभापति पराड़कर-जी चुने गये थे। ब्रिटिश-युग का आतंक जबर्दस्त था, पर पराड़कर-जी का ही महान् व्यक्तित्त्व था कि उसके संरक्षक काशी-नरेश स्व० महाराज आदित्यनारायण सिंहजी बने और कांग्रेस-प्रदर्शनी में तिरंगा झण्डा फहराया गया। लिच शाही के युग में नगरपालिका से प्रदर्शनी के लिए आर्थिक सहायता प्राप्त करना भी मामूली बात

नहीं थी। उस समय पराड़करजी तथा उनके अनेक साथी जेल जाने लिए कृतसंकल्प थे। उक्त प्रदर्शनी का उद्‌घाटन श्रद्धेय डॉ० भगवान्‌दासजी ने किया था।

एक युग था, जब हिन्दी भाषा तथा साहित्य पर पराड़करजी का अत्यधिक प्रभाव था। आचार्य पं० किशोरीदास वाजपेयीजी ने बताया कि सन् १९३८ में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति राष्ट्ररत्न स्व० श्री शिवप्रसादजी गुप्त चुने गये थे; किन्तु शिवप्रसाद-जी ने 'सम्मेलन' से अनुरोध किया कि मेरे सम्माननीय जो हैं, उनको चुनें। इस प्रकार उस वर्ष पराड़करजी ही सभापति चुने गए।

पराड़करजी अपने सहयोगियों से बराबर कहा कहते थे—"अखबार में अपना नाम कहीं न आने दो और दूसरी बात—'खोगीरी' करो।" वह आत्म विज्ञापन को (और वह भी अपने पत्र के द्वारा) पत्रकारिता के आचार का सब से बड़ा अपराध मानते थे। 'खोगीरी' की परिभाषा स्वयम् पराड़करजी के शब्दों में इस प्रकार है—

"मैं कलकत्ते में अपने मामा देउस्करजी के पास काम सीखने गया। वह महाराष्ट्रीय होते हुए भी बंगला में काम करते थे। उन्होंने मुझसे कहा—बाबूराव! तुम मराठी-भाषी हो; इसलिए हिन्दी सीखते समय जब तुम्हारे मन में कोई वाक्य या शब्द आवे तो ठहर कर सोचो कि क्या हिन्दी में यह उसी अर्थ में चलता है, जिसमें मराठी में।" इस प्रकार पराड़करजी उपयुक्त शब्दों के प्रयोग इतनी सरलता और शीघ्रता से करने लगे कि इसका एक ही दृष्टान्त प्रर्याप्त होगा।

राष्ट्रपिता बापू और वाइसराय का पत्राचार चल रहा था। वाइसराय ने बापू से वार्त्तालाप करने के लिए जो शर्तें रखी थीं,

वे बहुत ही अपमानजनक थीं। इस पर श्री श्रीनिवास शास्त्री महाशय द्वारा अंग्रेजी में दिए गए एक वक्तव्य का वाक्य था—"सैक क्लाथ ऐण्ड एशेज।" आशय यह कि अत्यन्त दैन्य प्रकट करना। सभी पत्रों में उनके इस वक्तव्य का अनुवाद छपा। एक सहयोगी के पूछने पर पराड़करजी ने तत्क्षण बताया—"क्या कांग्रेस दाँतों में तृण दबाकर वाइसराय के सामने जाय?"

एक बार पराड़करजी की कन्या मृत्यु-शय्या पर थी, पर वह चिंता और विषाद की मुद्रा में भी कार्यालय पहुँचे। सहयोगियों के इस आग्रह पर कि "आप रहने दीजिये—हम लोग अग्रलेख-टिप्पणियाँ लिख लेंगे।" वह बोले—"कोई बात नहीं, जब आ ही गया हूँ तब लिख कर ही जाऊँगा।" और, लाख अनुरोध करने पर भी नहीं माने और घंटे भर में अग्रलेख और टिप्पणियाँ लिखकर धीरे से उठे और चले गये!

एक बार सम्पादकीय विभाग के कुछ सदस्यों ने विलम्ब से कार्यालय पहुँचने का निश्चय किया ताकि पत्र समय पर न निकले और उनकी माँगों की पूर्त्ति हो सके। पराड़करजी को जब यह ज्ञात हुआ, तब उन्होंने तुरन्त कार्यालय पहुँचकर अपने शेष सहयोगियों से अनुवाद के लिए तार माँगे और देखते-देखते स्वयम् दो घंटे में चार कालम का मैटर तैयार कर डाला। बाद में उन असहयोगियों को लज्जित होना पड़ा और उन लोगों ने पराड़करजी से क्षमा-याचना की। उस समय पराड़करजी ने कितने मार्के की बात कही थी—

"पत्रकारिता का क्षेत्र सेवा का क्षेत्र है। इसमें पहले सेवा, बाद में मेवा की अभिलाषा रखनी चाहिये। भले अंधड़ और तूफान आयें, भूकम्प और दमन का चक्र चले, कोई भी सहयोगी बीमार पड़े या मरे, पत्रकार को समय पर पत्र निकालना ही होगा।

इतनी लगन, इतनी आत्मीयता, इतना त्याग और सेवा-भाव हो, तभी पत्रकारिता सजग और सबल होगी।"

पराड़करजी के भोलेपन और चरित्र-बल पर एक घटना से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। श्रद्धेय दुगवेकरजी महाराज के शब्दों में—"यों विवाह के अत्यन्त उत्सुक होते हुए भी बाबूराव चरित्र के पक्के थे। कुछ भोले भी थे। तब सिनेमा नहीं चला था, नहीं तो 'पाखट' हो जाते। 'भारतेन्दु-नाटक-मण्डली' का सामान खरीदने मैं कलकत्ते गया था और पराड़करजी के यहाँ ठहरा था। वह सुकिया स्ट्रीट में अपने मामा के साथ रहते थे। पड़ोस के मकान में वेश्या-वृत्ति करने वाली कुछ स्त्रियाँ रहती थीं। उनका बरामदा—जहाँ वे बैठती थीं, पराड़करजी के कमरे की खिड़की के सामने पड़ता था। वह खिड़की में बैठे-बैठे किताबें पढ़ा करते थे, परन्तु कभी यह जानने का यत्न नहीं किया कि ये औरतें कौन हैं और यहाँ क्या करती हैं। मैंने पूछा—"इन स्त्रियों के यहाँ रहने से आपको असुविधा होती होगी।" उत्तर मिला—"असुविधा क्यों होगी? गरमी के दिन हैं, हवा के लिए बरामदे में बैठती होंगी।" मैंने उपहास से कहा—कहीं आपको हवा न खिला दें, बचे रहिएगा। इनकी हवा से गरमी बढ़ जाती है। समझाया, तब समझे और आश्चर्य करने लगे।"

श्रद्धेय दुगवेकरजी ने ही बताया कि विद्यार्थी-जीवन में पराड़करजी नंगे सिर रहा करते थे। उनका प्रथम विवाह हो चुका था। प्रथा के अनुसार मकर संक्रांति के दिन उनके श्वसुर ने उनको अपने यहाँ भोजन कराकर नवीन वस्त्र पहनाए। पराड़करजी ने धोती, कुरता, कोट आदि तो पहन लिया, पर महाराष्ट्रीय पगड़ी पहनने से इन्कार कर दिया। वृद्ध श्वसुर ने कहा—"तुम्हारे पिता भी मेरा कहा मानते थे, तुम नहीं मानते, लज्जा की बात है। दो मिनट के

लिये सगुन की पगड़ी पहन लो—टीका कढ़ जाने पर उतार देना। आज पगड़ी पहनने से जीवन भर गार्हस्थ्य जीवन सुखमय रहता है। मान जाओ, सुखी रहोगे।" पर पराड़करजी नहीं माने और दुःखी श्वसुर ने नंगे सिर ही टीका काढ़ा और संयोग देखिये कि वह सचमुच अंत तक सुखी गार्हस्थ्य जीवन के लिये तरसते रहे। यद्यपि बाद में उनके तीन विवाह और भी हुए, पर वह सुन्दर और सुखमय तो क्या, साधारण गृहस्थी भी न कर सके!

प्रायः लोगों की दृष्टि में पराड़करजी बड़े नीरस थे; पर वास्तव में थे वह बड़े ही विनोदी और हास्य-प्रिय। एक बार हास्यरस के प्रसिद्ध कवि पं० कांतानाथ पाण्डेय 'चोंच'जी पराड़करजी के निकट बैठे थे कि पराड़करजी आलमारी खोलकर एक चित्र निकाल लाए और उनसे पूछने लगे—"पाण्डेयजी, इस चित्रस्थ व्यक्ति को आप पहचानते हैं?" 'चोंच'जी पहचान न सके। वह चित्र किसी राजपूत का प्रतीत होता था। बीकानेरी साफा, शेरवानी और पाजामा। जब वह अटकलबाजियाँ करके थक गए, तब पराड़करजी बोले—"यह चित्रस्थ व्यक्ति हैं पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर। यह अभी हाल में बीकानेर गए थे। वहीं इस दरबारी वेश का चित्र उतरा था।" 'चोंच'जी कहते हैं—"मैं यह सुनकर चित्रवत् हो रहा और वे खूब खिलखिलाकर हँस बड़े। खूब छकाया उन्होंने।"

एक बार 'चोंच'जी ने भी पराड़करजी को छकाया और खूब छकाया। होली का अवसर था। एक निमंत्रण-पत्र छपवाया गया, जिसमें निवेदकों में पराड़करजी का भी नाम था। समारोह के दो-तीन दिन पूर्व अन्य आयोजकों को 'चोंच'जी ने सूचित कर दिया कि वह किसी कारणवश उत्सव में भाग नहीं ले सकेंगे; किन्तु ऐन होली के दिन तड़के ही 'चोंच'जी ने जटा-जूट, दाढ़ी-मूँछ, खड़िया, मृगछाला और कमण्डलु आदि प्रसाधनों का सदुपयोग कर सिद्ध-

महात्मा का रूप धारण कर लिया और वह इसमें पूर्णतः सफल भी हुए। आयोजन चल रहा था। 'सिद्ध-महात्मा' "बमशंकर ! जय हो बाबा कीनाराम की !! बच्चा, कुछ भिक्षा ले आ।" कहते-कहते समारोह-स्थल पर पहुँच गए। सिद्ध-महात्मा के सम्मान में सभी साहित्यिकों ने श्रद्धापूर्वक नतमस्तक होकर प्रणाम किया। पराड़करजी को भी इस प्रकार विनत होते देख उनको कुछ झिझक और संकोचानुभव हुआ ; पर 'वेश की लाज' रखनी थी। अतः बोल उठे— "बेटा, चिरंजीव !" अंत में 'चोंच' जी ने सिद्ध-महात्मा का वह बाना उतार फेंका और पराड़करजी के चरण पकड़ लिए। इस पर पराड़करजी ने भी तुरन्त ही खिलखिलाकर हँसते हुए कहा— "बेटा, चिरंजीव !" ऐसे थे पराड़करजी—जिनमें हास्य और गाम्भीर्य—उभय गुणों का अद्भुत् सम्मिश्रण था !

कई वार कुछ उद्योगपतियों द्वारा अधिक वेतन तथा सुविधा का प्रलोभन देकर उनको काशी से राजधानी दिल्ली ले जाने का पूरा प्रयत्न किया गया ; पर पराड़करजी बराबर उन प्रलोभनों को ठुकराते रहे और नहीं गये, नहीं गये। पत्र के प्रकाशक उनको प्रधान संपादक बनाना चाहते थे। पराड़करजी कहते थे—"इस बुढ़ापे में अपनी जन्म तथा मुख्य कर्मभूमि छोड़कर कहाँ जाऊँ ? अब जीवन के कितने दिन शेष ही हैं ? मुझे इस असमंजस में न डाला जाय।" इस क्षेत्र में रहकर वह क्या अनुभव करते थे और उनकी कैसी मनःस्थिति थी, इसकी एक झलक हमें केन्द्रीय सरकार के सूचनाधिकारी श्री अशोकजी को लिखे गये उनके एक पत्र की इन पंक्तियों में मिल जाती है—"अच्छा हुआ जो तुम इस क्षेत्र से निकल गये। मुझको देखो, क्या गति हो रही है !"

पराड़करजी की प्रेरणा से काशी में 'राष्ट्रकवि परिषद्' नामक साहित्यिक संस्था की स्थापना हुई। वह परिषद् के संस्थापकों में तो

थे ही, नामकरणकर्त्ता, उन्नायक और आजीवन अध्यक्ष भी थे। प्रधान मंत्री होने के कारण, जीवन के उत्तरार्द्ध में उनको निकट से देखने, श्रीचरणों में रहकर कार्य तथा सेवा करने का मुझे सुअवसर मिला। मैं यह भी जान सका कि पराड़करजी कोरे पत्रकार ही नहीं, अपितु अच्छे आशु कवि भी हैं। उनका विभिन्न विषयों का गहन अध्ययन था। यही कारण है कि वह अर्थशास्त्र, वेदांत तथा इतिहास सरीखे गूढ़तम विषयों को बहुत ही सरल, स्पष्ट और बोधगम्य रूप से समझा देते थे। हाँ तो, एक बार परिषद् ने संत विनोबाजी को अभिनंदित करने का निश्चय किया। पराड़करजी का आदेश पाकर मैंने (कवि न होते हुए भी) कुछ पंक्तियाँ पद्यबद्ध कीं। अन्तिम पंक्ति थी—"वेगवान् विद्वान् तुम्हारे सदृश नहीं मिल पाया।" सुनते ही पराड़करजी बोले—"इसे यों भी रख सकते हैं—वेत्रवती-सी गति, पर सचमुच वेत्र-सरीखी काया।" इससे केवल उनका आशुकवित्त्व ही नहीं प्रकट होता, अपितु दूरदर्शिता तथा विलक्षण पांडित्य का प्रमाण भी मिलता है।

उन दिनों 'धर्मयुग' की सुगम वर्ग पहेलियों की विशेष धूम थी। अर्थ-प्राप्ति की दृष्टि से नहीं, अपितु मनोरंजन और ज्ञानवर्धन के उद्देश्य से हम लोगों को वह परामर्श दिया करते और जब सर्व शुद्ध हल प्रकाशित होता, तब सभी उनकी सूझ-बूझ पर आश्चर्य-चकित हो उठते थे। परलोक विद्या के प्रख्यात मर्मज्ञ श्री वी० डी० ऋषि के प्लैंचेट प्रयोगों में भी उनकी विशेष रुचि थी। प्रायः ऐसे प्रयोग वह करते थे।

एक बार उन्होंने अपनी जन्म-कुण्डली मुझे एक प्रसिद्ध ज्योतिषी-जी को दिखाने के लिये दी थी और उनके बताए उपायादि उन्होंने बहुत ही श्रद्धा-भक्तिपूर्वक किये थे। परिणामस्वरूप उनको

लाभ हुआ और तभी से उनकी आस्था ज्योतिष-शास्त्र पर विशेष जम गई थी। 'सप्तशती' तो उनका सर्वप्रमुख-इष्ट ग्रन्थ था। एक बार मैं बड़े संकट में था। उस समय उन्होंने मुझे 'सप्तशती' के अंश विशेष का पाठ करने का आदेश दिया था। जो प्रति मैं उनकी सेवा में ले गया था, उसमें उन्होंने यथा स्थान कृपापूर्वक संशोधन किया था और उनकी स्मृति के रूप में वह आज भी मेरे पास सुरक्षित है।

स्व० आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीजी की भाँति पराड़कर-जी भी अपनी आय का विशेष अंश असहाय छात्रों को मासिक वृत्ति तथा फीस आदि के रूप में दिया करते थे। उनकी कृपा से कितने ही ग्रेजुएट हुए; किंतु वह इसे किसी प्रकार प्रकट नहीं करना चाहते थे।

अलौकिक प्रतिभा, शक्तिशाली लेखनी एवं राष्ट्र की राजनीतिक गति-विधि के सूक्ष्म अध्येता होने के कारण पराड़करजी के लेखों से जनता को चेतना तथा स्वातंत्र्य आंदोलन में सक्रिय भाग लेने की प्रेरणा मिलती थी। हिन्दी-पत्रकारिता में उन्होंने अपनी स्वतंत्र शैली प्रस्थापित की। अग्रलेखों तथा टिप्पणियों के रूप में उनका अगाध पांडित्य सुरक्षित है। उनकी हिन्दी-सेवा भी महान् है। पत्रकारिता के माध्यम से उन्होंने राष्ट्र-भाषा के शब्द-भण्डार को बहुत से नये शब्दों से समृद्ध किया। उदाहरणार्थ—'राष्ट्रपति' शब्द उन्हीं की देन है। राष्ट्रभाषा को सरल तथा परि-मार्जित करने में उनका विशेष योग था। उनके सम्पादकीय साहित्य के द्वारा गढ़े गये कितने ही शब्द उसी रूप में हिन्दी-जगत् अपना चुका है और 'पराड़कर-साहित्य' राष्ट्रभाषा हिन्दी और हिन्दी-साहित्य की स्थायी सम्पत्ति बन चुका है। वस्तुतः पराड़करजी जैसे निष्पक्ष, निर्भीक तथा स्वतंत्रचेता पत्रकार ही पत्र-

कारिता को निरन्तर उच्च स्तर पर ले जाते हुए उसके माध्यम से राष्ट्र की सच्ची सेवा कर सकते हैं। उनका कहना था—"एक पत्रकार को जनाधिकार का प्रहरी–निर्भीक भावों का प्रदर्शक–होना चाहिये।" और, सचमुच वह ऐसे ही आदर्श पत्रकार थे।

श्रद्धेय आचार्य शिवपूजनसहायजी ने २।४।५५ के कृपापत्र में मुझे लिखा था—

"......जहाँ तक हमारा अनुमान है, आपकी परिषद् से स्वर्गीय पराड़करजी का सम्बन्ध था। हमारा यही नम्र निवेदन है कि परिषद् के भूतपूर्व सभापति पराड़करजी के आश्रितों की यथोचित सहायता का अविलम्ब प्रबन्ध होना चाहिये। स्व० पराड़करजी के स्मारक-निर्माण का उद्योग भी आपकी परिषद् की ओर से ही होना चाहिये। पत्रकार-विद्यालय की स्थापना और उनकी सभी रचनाओं का सुसम्पादित संग्रह प्रकाशित करना उनका उपयुक्त स्मारक होगा। परिषद् को कम-से-कम इसके लिए आंदोलन तो करना ही चाहिए।"

यह सचमुच दुःख की बात है कि अभी तक हम लोग पराड़कर-जी के लिए कुछ नहीं कर सके। उनकी रचनाओं का सुसम्पादित संग्रह शीघ्र प्रकाशित हो, यह अत्यावश्यक है। यथा समय दिए गए उनके अनेक भाषण बहुत महत्त्वपूर्ण तथा संग्रहणीय हैं। कई ग्रंथों की पाण्डित्य-पूर्ण भूमिका भी उन्होंने लिखी थी। 'आज' के अतिरिक्त दैनिक 'संसार' की फाइलों में भी पराड़करजी के अनेक महत्त्वपूर्ण अग्रलेखादि हैं। 'संसार' में एक लेख दशहरे पर था, जिसके संबंध में उन्होंने सूचनाधिकारी श्री अशोकजी से कहा था—"चालीस वर्ष बाद अब मैंने लिखना सीखा है।" अशोकजी के शब्दों में—"इस लेख का कोई वाक्य एक लाइन से बड़ा नहीं। वह लेख अवश्य प्रकाशनीय है, पर कौन छपावे?" और, सुना कि अब तो

'संसार' की पूरी फाइल भी दुर्लभ है ! इसी प्रकार 'अभिनन्दन-ग्रंथ' तो उनको भेंट किया न जा सका, पर 'पराड़कर-स्मृति-ग्रंथ' प्रकाशित किया जा सकता है। ज्ञात हुआ है कि पराड़करजी का सन् १६२० से '४४ पर्यन्त प्रायः २४-२५ वर्षों का पत्राचार तथा चित्रादि उनके प्रमुख सहायक तथा 'आज' के वर्त्तमान सम्पादक श्री रा० र० खाडिलकरजी के पास सुरक्षित हैं। 'आज' के ४० वर्ष पूर्ण होने पर 'ज्ञानमंडल' की ओर से एक ग्रन्थ निकलने को है, जिसमें 'आज' के चुने हुए सम्पादकीय लेख, पराड़करजी के पत्र तथा हिन्दी-पत्रकारिता एवं 'आज' का इतिहास भी रहेगा।

'पराड़कर-स्मृति-भवन' का शिलान्यास उत्तर प्रदेश के शिक्षा, सूचना तथा गृह मंत्री एवं पराड़करजी के सुयोग्य शिष्य माननीय पं० कमलापति त्रिपाठी के कर-कमलों द्वारा हो चुका है और स्मृति-भवन के निर्माणार्थ वाराणसी-नगरपालिका से टाउनहाल (गांधी मैदान) में भूमि मिल चुकी है; पर अर्थाभाव तथा अन्य कई कारणों से यह कार्य पूर्ण नहीं हो पाया है। उल्लेख्य है कि 'पराड़-कर-स्मृति-भवन' में पत्रकारों के लिए एकत्र होने तथा राष्ट्र की विविध समस्याओं पर विचार-विमर्श करने की व्यवस्था के साथ ही नित्योपयोगी ग्रंथ, समाचारपत्र तथा अन्यान्य साधन सुलभ होंगे। इसके अतिरिक्त भारतीय हिन्दी-पत्रकारिता के अध्ययन-मनन की समुचित व्यवस्था भी हो सकेगी। भवन-निर्माण के पश्चात् उसकी उपयोगिता स्वयम् सिद्ध हो जायगी और इस प्रकार वह अपने ढंग का एक अनोखा और आदर्श स्मारक होगा। स्मृति-भवन का आयोजन 'काशी-पत्रकार-संघ' की ओर से हो रहा है।

इस महान् पुण्य कार्य में काशी-वासियों का पूर्ण सहयोग तो मिलेगा ही, साथ ही पराड़करजी के भक्तों, शिष्यों और कृपापात्रों को भी पीछे नहीं हटना चाहिए। 'आज' के सामान्य पाठक,

जिन्होंने वर्षों तक पराड़करजी की लौह लेखनी से उद्बोधन पाया है, स्वयम् सहायता देकर और इष्ट-मित्रों को प्रेरित कर अपने कर्त्तव्य का पालन कर सकते हैं। प्रदेशीय और केन्द्रीय सरकार का सहयोग भी इस अनुष्ठान में अपेक्षित है। यद्यपि पराड़करजी का सच्चा स्मारक तो उनके द्वारा हिन्दी-पत्रकारिता में स्थापित किया गया स्वस्थ, निर्भीक तथा निष्पक्ष आदर्श और परम्परा ही है, तथापि उनके इस स्थूल या लौकिक स्मारक के निर्माण का कार्य कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उनके आदर्शों के पालन का उत्तर-दायित्त्व जहाँ विशेष रूपेण पत्रकार बन्धुओं पर है, वहाँ इस स्मारक के निर्माण का भार भी वे अवश्य वहन करेंगे ; पर मुख्यतः यह कार्य सर्व-साधारण का है और यदि हम सभी इसमें शीघ्र जुट जायँगे तो यह शिलान्यास ही न रहकर अवश्य भवन के रूप में परिणत हो जायगा। आवश्यकता है—इस ओर हिन्दी-प्रेमियों, पत्रकारों और विद्वानों के ध्यान देने की, सचेष्ट होकर कर्त्तव्य-पालन में जुट जाने की। अवश्य ही हम कुछ कर लेंगे और वह बहुत बड़ी चीज होगी।

वाजपेयीजी और पराड़करजी के बाद बृहत्त्रयी में गर्देजी को हम स्मरण करते हैं। 'भारतमित्र', 'श्रीकृष्णसंदेश', 'नवजीवन', 'नवनीत', 'अभ्युदय' तथा 'विजय' आदि पत्रों के सफल सम्पादक के रूप में वह प्रसिद्ध रहे हैं। पत्रकारिता के क्षेत्र में रहते हुए उन्होंने अच्छा यश प्राप्त किया है। हिन्दी के पुराने, यशस्वी और सिद्ध सम्पादकों में उनकी गणना सादर होती है। केवल दैनिक पत्र ही नहीं, अपितु साप्ताहिक, मासिक सभी प्रकार के पत्रों से उन्होंने हिन्दी और हिन्द की, राष्ट्र और राष्ट्रभाषा की महत्त्वपूर्ण सेवा की है। राजनीति के क्षेत्र में भी उन्होंने बहुत महत्त्व के कार्य किए हैं। उनका जीवन त्याग-मय रहा है और वाजपेयीजी

तथा पराड़करजी की भाँति ही गर्देजी ने भी अपना सारा जीवन हिन्दी और पत्रकारिता की सेवा-साधना में लगाया है। इस समय किसी पत्र से सम्बन्धित न होने पर भी वह लिखते-पढ़ते रहते हैं। उनकी सेवा कई मार्गों की ओर मुड़ी हुई है। सन् १९११ के आरम्भ में 'भारतमित्र' के माध्यम से उन्होंने पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया था। इस प्रकार लगभग ४७ वर्षों से वह इस क्षेत्र में हैं। यद्यपि वह पत्र-सम्पादन-कार्य से अवकाश ग्रहण कर चुके हैं और प्रायः अस्वस्थ-से रहते हैं; तथापि उनकी सेवा-साधना या सम्पादन-कला भुलाई नहीं जा सकती।

मैंने गर्देजी से कई बार आत्मवृत्त लिखने वा लिखवा देने की प्रार्थना की; किन्तु वह बराबर यही कहकर टालते रहे—"जीवन तो अनादि है, आत्मा अविनाशी है; फिर कुछ कहना अपूर्ण ही होगा।" उनके इस तर्क के सामने मैं निरुत्तर हो जाता और निराश-सा हो चुका था; पर जब वर्षों के बाद मैंने उनको राजी कर लिया, तब मुझे कुछ संतोष हुआ। यहाँ कुछ ऐसे संस्मरण प्रस्तुत हैं, जिनसे उनके तेजस्वी स्वरूप तथा बहुमुखी प्रतिभा का कुछ परिचय मिलेगा।

जब गर्देजी १० वीं कक्षा में थे, उन दिनों स्वदेशी आंदोलन चल रहा था। वह उसमें भाग लेने लगे। फलतः अध्ययन एक वर्ष तक बन्द-सा रहा। दूसरे वर्ष जब वह स्थानीय सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज में भरती होने गए, उस समय महान् हिन्दी-सेवी स्व० डॉ० श्यामसुन्दरदासजी उप-प्रधानाध्यापक थे। उस समय गर्देजी का उनसे बड़ा रोचक संवाद हुआ। श्यामसुन्दरदासजी ने कहा था—"हम तो तुमको भरती नहीं करेंगे; क्योंकि अनुभव हो चुका है कि तुम आन्दोलन में पड़कर स्कूल छोड़ देते हो।" गर्देजी ने उस समय कितना सुन्दर उत्तर दिया था—"हमको भी अनुभव

हो चुका है कि स्कूल छोड़ देने से हानि होती है।" प्रसन्न होकर बाबू साहब ने उनको उसी समय भरती कर लिया था और बाद में एक दिन वह भी आया, जब 'हिन्दी के निर्माता' नामक अपने प्रसिद्ध पुस्तक में श्यामसुन्दरदासजी ने गर्देजी का सादर उल्लेख किया।

गर्देजी के स्वाभिमान की एक झलक इस घटना से मिलती है—

उन दिनों वह काशी के 'ज्ञानमण्डल' में थे। उनके शब्दों में—"बात मामूली थी और अब तो बहुत ही मामूली लगती है, पर मेरा स्वभाव पहले से ही झगड़ालू है; इसलिए मैं झगड़ पड़ा। 'ज्ञान-मण्डल' में आगे काम करने के लिए आने वाले ग्रेजुएटों के वेतन की जो दर निश्चित की गई, वह मुझे मिलने वाले वेतन की दर से अधिक थी और यह मुझे कुछ अपमानजनक लगा। वैसे मुझसे अधिक वेतन पाने वाले लोग सर्वत्र हैं—इसका कोई गम नहीं है; पर शिवप्रसादजी के 'ज्ञानमण्डल' में मेरे वेतन की दर एक ग्रेजु-एट के वेतन की दर से कम हो, यह बात बर्दाश्त करने लायक तो नहीं थी। इसलिए मन-ही-मन मैंने यह निश्चय किया कि अपने जीवन का 'केन्द्र' मनुष्य आप ही बने, यह अच्छा है।"

अब तक गर्देजी शिवप्रसादजी को एक प्रकार से 'केन्द्र' ही मानते थे, पर अब स्वयम् वह अपने 'केन्द्र' बन गए। वह कहते हैं—"उसका भी कोई दूसरा केन्द्र था और अब तो मैं अपने को केन्द्र ही नहीं मानता।" इस बात का दुःख शिवप्रसादजी को हुआ और गर्देजी को भी हुआ। वह गर्देजी को बिदा करना नहीं चाहते थे और गर्देजी हटना भी नहीं चाहते थे; पर 'केन्द्र' वाली बात बीच में आकर इतनी मजबूती से बैठ गई कि उन्होंने 'ज्ञानमण्डल' से इस्तीफा दे दिया।

एक दिन गर्देजी 'भारतमित्र' के लिए अग्रलेख लिख रहे थे कि पत्र के व्यवस्थापक स्व० श्री यशोदानंदन अखौरीजी आए और कहने लगे—"भारतमित्र की बिक्री तो रोज-रोज घट रही है।" गर्देजी के मुख से इसका उत्तर यह निकला—"आपको अपने काम से इतना अवकाश मिलता है कि आप यह शिकायत लेकर मेरे पास आए। जाइए, आप अपना काम देखिए और मुझे अपना काम करने दीजिए।" यह बात कही गर्देजी ने एक बहुत बड़ा पहाड़ सिर पर उठाकर, जिसके बोझ से वह दबे जाते थे, पर दूसरे दिन से सारी स्थिति बदल गई। रोज-रोज ग्राहक-संख्या बढ़ने लगी—बिक्री भी रोज-रोज बढ़ने लगी। केवल कलकत्ते में ही नहीं, बल्कि कलकत्ते से पेशावर तक 'भारतमित्र' का प्रचार जोर-शोर से बढ़ा। पंजाब के कई स्थानों से यह खबर मिली कि वहाँ के लोगों ने 'भारतमित्र' के लेख छाप-छापकर बाँटे हैं।

गर्देजी द्वारा प्रकाशित एक पुस्तक के नामकरण की घटना का ऐतिहासिक महत्त्व है। गर्देजी की 'ग्रन्थ-प्रकाशक-समिति' ने उत्तरप्रदेश के वर्त्तमान मुख्य मंत्री माननीय श्री सम्पूर्णानन्दजी की दो पुस्तकें छापी थीं—एक 'महात्मा गांधी' और दूसरी 'महाराज छत्रसाल।' सम्पूर्णानन्दजी ने गांधीजी-सम्बन्धी अपनी पुस्तक का नाम 'धर्मवीर गांधी' रखा था; क्योंकि 'कर्मवीर गांधी' नाम की एक दूसरी पुस्तक मौजूद थी। पर गर्देजी के दिमाग पर यह बात चढ़ी हुई थी कि "गांधीजी तो महात्मा हैं; इसलिए पुस्तक का नाम 'महात्मा गांधी' ही ठीक होगा।" इस सम्बन्ध में गर्देजी कहते हैं—"प्रकाशक के नाते की हुई वह एक बड़ी भूल थी कि मैंने उस पुस्तक का नाम 'महात्मा गांधी' छाप दिया।" पर वह 'भूल' ऐसी थी कि 'सही' सिद्ध हुई और न केवल भारत ने, अपितु समस्त विश्व ने गांधीजी को महात्मा गांधी माना और कहना आरंभ किया।

गर्देजी नामकरण के आचार्य हैं। ऐसा ही एक दूसरा प्रसंग है। श्रद्धेय पं० बनारसीदास चतुर्वेदीजी से ज्ञात हुआ कि पहले सभी लोग 'ग्रेटर इन्डिया' का अनुवाद 'बृहत्तर भारत' करते थे। 'बृहत्तर भारत' के बजाय 'विशाल भारत' का प्रयोग गर्देजी ने ही बताया था। गर्देजी ने कहा—"यह कर्ण-कटु है—'विशाल भारत' कहिए।" तब से 'विशाल भारत' चल पड़ा। इसी प्रकार 'अन्त-र्राष्ट्रीय' सरीखे प्रसिद्ध, किन्तु अशुद्ध शब्द के स्थान पर गर्देजी ने 'सार्वराष्ट्रीय' शब्द सामने रखा। गर्देजी की सूझ-बूझ तथा दूरदर्शिता अनोखी है और वह घड़ी भी बहुत शुभ माननी चाहिए, जब वह किसी वस्तु का नामकरण करते हैं।

एक बार गीता प्रेस के सुप्रसिद्ध 'कल्याण' के अंगरेजी-संस्करण 'कल्याणकल्पतरु' का एक विशेषांक निकलने को था। जनवरी में वह प्रकाशित होता और नवम्बर में या दिसम्बर में उसके सम्पादक बीमार पड़ गए। अब विशेषांक कैसे निकले, यह एक समस्या थी। श्री हनुमानप्रसाद पोद्दारजी ने गर्देजी के पास तार भेजा कि मराठी, हिन्दी आदि का अनुवाद (जिसमें महामना मालवीयजी का भी एक लेख था) करना है और उस समय गर्देजी ने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा का परिचय दिया। गर्देजी के कथनानुसार उनका अंगरेजी का अभ्यास नहीं था; पर वह उसमें लगे। एक लेख अपना लिखा, दूसरों के लेखों का अनुवाद किया; पर जिस लेख की सबसे अधिक चिन्ता थी, वह था मालवीयजी महाराज का लेख। बाद में संत-साहित्य के प्रसिद्ध लेखक तथा 'सनातन-धर्म' के तत्कालीन सम्पादक श्री भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र 'माधव' जी ने मालवीयजी के ये शब्द गर्देजी को सुनाए थे—"इससे अच्छा अनुवाद मैं नहीं कर सकता था।" गर्देजी कहते हैं—"मालवीय-जी का यह प्रमाण-वचन मेरे लिए महान्-अमोघ आशीर्वाद था।"

एक बार पाण्डेय श्री बेचन शर्मा 'उग्र' जी ने लिखा था कि इन तीनों सम्पादकाचार्यों को इनकी बहुमूल्य सेवाओं के उपलक्ष्य में एक बड़ी रकम भेंट कर आगे की साहित्य-सेवा के लिए निश्चिन्त कर दिया जाय, पर वह प्रस्ताव जहाँ-का-तहाँ रह गया और पराड़करजी तो चले भी गए। पराड़करजी चले गए तो क्या, अपने एकमात्र प्रतिरूप चि० अशोक को छोड़ गए हैं। उसकी शिक्षा-दीक्षा आदि का सम्पूर्ण भार क्या हिन्दी और पत्रकार-जगत् पर नहीं है? पराड़करजी के स्मृति-भवन के निर्माणार्थ सहायता देकर भी हम प्रायश्चित्त कर सकते हैं। वाजपेयीजी और गर्देजी के प्रति भी हमें अपने कर्त्तव्य पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए।

स्व० पराड़करजी तथा श्रद्धेय वाजपेयीजी हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति-पद को सुशोभित कर चुके हैं। 'साहित्य-वाचस्पति' की सम्मानित उपाधि भी इन दोनों महानुभावों को भेंट कर 'सम्मेलन' गौरवान्वित हो चुका है और यह सर्वथा उचित ही है। इस पर दो मत नहीं हो सकते; पर अनेक अन्य पत्रकार-महारथियों की भाँति ही गर्देजी की ओर 'सम्मेलन' या किसी संस्था वा सरकार की दृष्टि अभी तक नहीं गई है। मेरा यह लिखने का अभिप्राय और कुछ नहीं है और न गर्देजी इसकी अपेक्षा ही रखते हैं। संभवतः वह यह सब स्वीकार भी न करें; पर हमें अपने कर्त्तव्य से च्युत नहीं होना चाहिए। यों हिन्दी-पत्रकारिता पर इस 'बृहत्त्रयी' का जो महान् ऋण है, उसे हम असंख्य पुरस्कारों और सम्मानों से भी नहीं चुका सकते। कहा जा सकता है कि ऐसे लब्धप्रतिष्ठ, वयोज्ञानवृद्ध, यशस्वी, स्वाभिमानी; किन्तु निरभि-मानी महारथियों के प्रति, उनकी साधना और तपस्या के प्रति बिना कृतज्ञता-ज्ञापन और श्रद्धा-समर्पण के हिन्दी की नई पीढ़ी

पनप नहीं सकती। हिन्दी-पत्रकारिता के क्षेत्र में यह बृहत्त्रयी अपनी महान् सेवाओं के लिए सदा सादर स्मरण की जाएगी— इनकी साहित्य-सेवा स्वर्ण-वर्णांकित रहेगी, इसमें सन्देह नहीं।

श्रद्धेय वाजपेयीजी

सम्पादकाचार्य पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी का जन्म पौष कृ० १४ सं० १९३७ (३० दिसम्बर सन् १८८०) को हुआ था। उनकी शिक्षा पहले पुराने कानपुर में घर पर ही हुई। उर्दू, फारसी और कई वर्षों के पश्चात् अंगरेजी का अध्ययन चला। उन्होंने ब्राह्मण-स्कूल तथा काशी के हरिश्चन्द्र एडेड स्कूल में कुछ समय तक शिक्षा प्राप्त की। हरिश्चन्द्र स्कूल उन दिनों ठठेरी बाजार में था। यह सन् १८७७ की बात है, जब कि वाजपेयीजी ७-७॥ वर्ष के थे। उक्त स्कूल के तत्कालीन एक अध्यापक श्री दीनानाथजी का वाजपेयीजी को अब भी स्मरण है। उनके सम्बन्ध में वाजपेयीजी ने मुझसे कहा—"वह अद्‌भुत विद्वान् थे।" इसके बाद दो वर्ष कलकत्ते में—पहले आर्यमिशन इन्स्टीट्यूशन और बाद में हेयर स्कूल में अध्ययन कर वह कानपुर लौट गए और वहाँ जिला-स्कूल में पढ़ने लगे।

आज से ५८ वर्ष पूर्व सन् १९०० में वाजपेयीजी ने इन्ट्रेन्स-परीक्षा उत्तीर्ण की थी। अग्रज तथा माता के देहावसान के कारण वह कालेज-जीवन में प्रवेश न कर सके। वह निःसंकोच कहते हैं—"यह त्रुटि पूरी करने के लिए स्वाध्याय चलता रहता है।"

इन्ट्रेन्स-परीक्षा में उत्तीर्ण होकर सन् १९०२ में वह कलकत्ते गए और वहाँ इलाहाबाद बैंक में १ अप्रैल १९०२ से ३१ मार्च १९०५ तक कार्य करते रहे। इसके पश्चात् कई मास तक यत्र-तत्र कुछ कार्य किया और १९०५ के अक्तूबर में 'हिन्दी बंगवासी' में पहुँचे।

यहीं से उनका पत्रकार-जीवन आरम्भ होता है। तत्कालीन समाचारपत्रों में 'हिन्दी बंगवासी' सर्वाधिक लोकप्रिय था। कांग्रेस को 'कांगरस' लिखकर उसका उपहास करने वाले पत्रों में 'बंगवासी' का विशेष प्रचार था और उसकी सात हजार प्रतियों का प्रकाशित होना आधुनिक युग के लिए चाहे कुछ भी न हो, उस समय एक बड़ी बात थी। 'बंगवासी' की लोकप्रियता इतनी अधिक थी कि लोग बहुधा किसी पत्र को देखकर पूछने लगते—"यह कहाँ का 'बंगवासी' है?" लोग 'बंगवासी' को समाचारपत्र का पर्यायवाची समझते थे।

'बंगवासी' को छोड़कर वाजपेयीजी एक वर्ष के अन्दर ही दूसरे काम में लग गए, पर वह मनोनुकूल न होने के कारण उन्होंने १९०७ ई० में 'नृसिंह' नामक राजनीतिक मासिक निकाला। वह एक वर्ष तक चलता रहा। सन् १९०९ में 'बंगाल नेशनल कौंसिल आफ एजूकेशन' के नेशनल कालेज में वह हिन्दी के अध्यापक नियुक्त हो गए, किन्तु संयोगवश वहाँ भी १९१० तक ही रहे और '११ के जनवरी मास में 'भारतमित्र' का सम्पादन करने लगे। १९१९ ई० की जुलाई तक वह वहाँ रहे। 'भारतमित्र' को दैनिक तथा तत्कालीन हिन्दी-दैनिकों का अग्रदूत बनाने का श्रेय वाजपेयीजी को ही है।

स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण उन्होंने 'भारतमित्र' छोड़ा था; किन्तु पुनः १९२० की श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी के शुभ दिन उन्होंने नया पत्र 'स्वतन्त्र' निकाला, जो बहुत धूमधाम से दस वर्ष चला। 'स्वतन्त्र' की अपनी स्वतन्त्र नीति थी। इस सम्बन्ध में वाजपेयीजी कहते हैं—"वह न बापू का अन्ध भक्त था और न उनका विरोधी। वह उनके जन-आन्दोलनों का बराबर समर्थन ही करता था और इस समर्थन के कारण उसको अकाल ही काल-कवलित

होना पड़ा। यह उसकी स्वतन्त्र नीति का ही फल था कि उसकी मृत्यु पर किसी ने आँसू की एक बूँद तक नहीं गिराई। इसकी कोई शिकायत नहीं है, प्रसंगवश चर्चा कर दी गई है। संसार थोकों में विभक्त रहता है। यदि किसी को शान-शौकत से रहना है, तो वह अच्छे दल के साथ ही मिलकर रह सकता है—नहीं तो जूतियाँ सटकाते घूमना पड़ता है। पर जो लोग जूतियाँ सटकाने में ही शान समझते हैं, उन्हें इसमें ही आनन्द आता है। जो हो, नमक-सत्याग्रह-आन्दोलन का समर्थन 'स्वतन्त्र' ने दृढ़ता से किया था और इसी से वह सरकार का कोप-भाजन होकर बन्द हुआ।"

आगे वह कहते हैं—"परदेशी सरकार जन-आन्दोलन को कभी सह नहीं सकती; क्योंकि इससे जनता पर उसके रोब-दाब का अंत हो जाता है, जिससे वह शासन करती है। परन्तु 'स्वतन्त्र' के सामने देश के जीवन का प्रश्न था, अपने जीवन का नहीं। थोड़े दिनों की शानदार जिन्दगी उस जिन्दगी से अच्छी है, जिसमें रोज ही मौत दरवाजा खटखटाती रहती है। "जिन्दगी जिन्दादिली का है नाम। मुर्दादिल खाक जिया करते हैं।" नमक-सत्याग्रह में मैंने कोई सक्रिय भाग नहीं लिया; पर जैसा सब देशों में पत्रकार देश में युद्ध होने की स्थिति होने पर किया करते हैं, मैंने भी किया। अन्तर इतना ही था कि मैं जनता की इच्छा का समर्थन करता था। इसे परदेशी सरकार कैसे सह सकती?"

उल्लेख्य है कि 'स्वतन्त्र' से बंगाल-सरकार ने पाँच हजार की जमानत माँगी थी और सन् १९३० में तो वह बन्द ही हो गया। उसका पुनर्जन्म भी हुआ, पर उसके पश्चात् चिरकाल तक जीवित न रह सका और पहले सत्याग्रह (असहयोग) आन्दोलन में जैसा चलता था, वैसा पुनः न चल सका। इसके बाद किसी पत्र के

सम्पादन से वाजपेयीजी का सम्बन्ध नहीं रहा। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि सन् १९२३ में 'स्वतंत्र' ने ही सर्व प्रथम 'दीपावली-विशेषांक' निकाला था। तब से हिन्दी में अन्य अवसरों पर भी विशेषांक प्रकाशित करने की परंपरा चल पड़ी।

'स्वतंत्र' से सम्बन्ध विच्छिन्न होने पर भी वाजपेयीजी का सम्बन्ध बराबर समाचारपत्रों से बना रहा। वह बराबर पत्रों में लिखते रहे और आज भी उनका यह क्रम सुचारु रूपेण चल रहा है। पहले वह लेखों का पारिश्रमिक नहीं लेते थे—यहाँ तक कि एक बार तो उन्होंने पारिश्रमिक लौटा भी दिया था। उस समय शुरू से ही हिन्दी के लेखक और पत्र निःशुल्क लिखते और छापते थे। नए लेखक की कोई रचना यदि किसी प्रसिद्ध पत्र में प्रकाशित हो जाती तो वह अपना परम सौभाग्य ही मानता था और वह अंक अपने इष्ट-मित्रों को दिखाता फिरता था। अधिकारी तथा प्रसिद्ध लेखक अपने विचारों के प्रचार के हेतु ही पत्रों में निःशुल्क लिखते थे। महर्षि दयानंद और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भी उन दिनों 'भारतमित्र' में लिखते थे। आधुनिक युग की भाँति उस समय न तो लेखक पारिश्रमिक चाहते थे और न सम्पादक देते ही थे। सच तो यह है कि पत्रों की स्थिति ठीक नहीं थी। वे चलते थे, यही बहुत था।

समय बदलता रहता है; अतः हिन्दी-पत्रकारिता ने भी करवट ली—हिन्दी-पत्रों का भाग्य भी चमका। वाजपेयीजी के शब्दों में—"घूरे के दिन भी बहुरे। पर पत्रों के ध्यान में पुराना ही जमाना था। जिनकी अच्छी चलती-बनती थी, वे भी टुकड़ों से लगे रहते और घाटे का रोना रोया करते थे। मुफ्त लेख लेना उन्होंने अपना जन्म-सिद्ध अधिकार समझ लिया था। एक मासिक पत्रिका लेख के लिए पाँच रु० देकर लेखक को कृतार्थ करती थी।

सम्पादक तो लेख को अग्र स्थान देने के साथ ही महत्त्वपूर्ण बताता था, पर स्वत्वाधिकारी की दृष्टि में पाँच रु० ही उसका उचित मूल्य था। स्वाभिमानी लेखक ऐसी पत्रिका को कब लेख दे सकता था? परन्तु जहाँ चार आने फर्मे की दर पर लोग पुस्तकें लिखते वा अनुवाद करते थे, वहाँ यदि ऐसे लेखक वा अनुवादक को पाँच रु० (बीस फर्मों का पारिश्रमिक) मिल जाय, तो वह तो इस रकम को 'आँधी के आम' ही समझेगा। हिन्दी में अब भी ऐसे लेखक होंगे!"

सन् १९२८ में वाजपेयीजी कलकत्ता-विश्वविद्यालय की मैट्रिक की हिन्दी-परीक्षा के तथा '३० में आई० ए० और एम० ए० के परीक्षक नियुक्त हुए। तब से अब तक वह आई० ए०, बी० ए० और एम० ए० के परीक्षक हैं। इसके अतिरिक्त सन् '३९ में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के २९वें अधिवेशन का सभापतित्त्व काशी में वाजपेयीजी ने किया था और सन् '४० में पूना में माननीय श्री सम्पूर्णानन्दजी की अनुपस्थिति के कारण दिवस द्वय पर्यन्त उन्होंने उक्त पद पुनः ग्रहण किया था। उसी वर्ष कलकत्ते के बड़ा बाजार के कुछ मित्रों की ओर से उनको २०१) रु० की थैली-सहित मान-पत्र भेंट किया गया था। सन् '४४ में कानपुर में अ० भा० पत्रकार-सम्मेलन के सभापति-पद को भी वाजपेयीजी सुशोभित कर चुके हैं।

सन् '४१ के दिसम्बर में जापान की युद्ध-घोषणा से कलकत्ते की स्थिति संकट-पूर्ण समझकर वह काशी चले आये थे और कई वर्ष यहाँ रहे। सन् '४२ में यहीं पत्नी का देहान्त होने पर वह पूर्वापेक्षा अधिक अस्वस्थ रहने लगे और निरंतर दो वर्ष चिकित्सा से लाभ न होने पर '४५ के जून में स्वास्थ्य-सुधार के लिए कलकत्ते लौट गए। वहाँ राय साहब डा० प्रबोधचन्द्र आदि की चिकित्सा

से उनको आरोग्य-लाभ हुआ। इसी बीच कलकत्ते के कुछ मित्रों ने ९ अगस्त को श्री विशुद्धानंद सरस्वती विद्यालय के हॉल में वाजपेयीजी का समारोहपूर्वक अभिनंदन किया। उस अवसर पर उनको मानपत्र तथा ११११) रु० की थैली भेंट की गई थी। तत्पश्चात् अभिनंदन-समिति के व्यय से शेष रकम भी वाजपेयीजी के पास भेज दी गई थी। थैली स्वीकार करते हुए वाजपेयीजी ने कहा था—"इसका उपयोग निजी कामों में नहीं किया जायगा; परन्तु सदुपयोग अवश्य किया जायगा।"

सन् १९१६ तक तो वाजपेयीजी पत्रकारिता के क्षेत्र में ही थे, पर आगे उन्होंने राजनीतिक आन्दोलन में भी सक्रिय भाग लिया। १९१६ ई० में उन्होंने 'तिलक होमरूल लीग' वा 'स्वराज्य-संघ' की शाखा कलकत्ता के बड़ा बाजार में स्थापित की, जहाँ से काँग्रेस-लीग-स्कीम जन-साधारण में प्रचारार्थ सभाष्य प्रकाशित हुई और लोकमान्य तिलक को विलायत में आन्दोलन चलाने के लिए (सन् १९१८ में) दस हजार रु० भेजे गये। सन् '१७–'१८ में स्व० श्री विपिनचंद्र पाल के सहयोग से कलकत्ते के कई भागों में वाजपेयीजी ने स्वराज्य-आन्दोलन भी चलाया था। सन '१७ में वह कलकत्ता-कांग्रेस की स्वागत-समिति के उपाध्यक्ष चुने गये थे। कई वर्षों तक अ० भा० कांग्रेस कमेटी के सदस्य भी रह चुके हैं। लोकमान्य तिलक के संकेत से १९०८ ई० में 'तिलक-स्वराज्य-संघ' के भी वह उपाध्यक्ष निर्वाचित हुए थे। सन् '२१ में असहयोग-आन्दोलन में देशबंधु सी० आर० दास, मौलाना अबुल कलाम आजाद तथा नेताजी सुभाषचन्द्र बोस प्रभृति के साथ गिरफ्तार होकर वाजपेयीजी एक मास तक प्रेसीडेन्सी जेल में उनके साथ रहे। चार मास तक सेन्ट्रल जेल में भी रहे। सन् '१३ में नागपुर में तथा सन् '३० में कानपुर में हुए कान्यकुब्ज-सम्मेलन के सभापति-पद को भी वह सुशोभित कर चुके हैं।

कुछ वर्ष पूर्व काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा 'डॉ० श्याम-सुन्दर दास पुरस्कार' वाजपेयीजी को भेंट किया गया था। स्वतंत्र भारत में वाजपेयीजी का सम्मान सन् '५२ में उ० प्र० के भू० पू० राज्यपाल श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशीजी ने उनको विधान-परिषद् का सदस्य मनोनीत कर किया।

विविध विषयों पर अंगरेजी तथा हिन्दी में वाजपेयीजी ने अनेक ग्रंथ लिखे हैं। 'परसियन इन्फ्लूएन्स आन हिन्दी' नामक उनका ग्रन्थ कलकत्ता-विश्वविद्यालय से और उसका हिन्दी-अनुवाद 'हिन्दी पर फारसी का प्रभाव' हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से प्रकाशित हुआ है। 'हिन्दी-कौमुदी', 'अभिनव हिन्दी-व्याकरण', 'शिक्षा', 'हिन्दुओं की राजकल्पना', 'भारतीय शासन-पद्धति' आदि भी उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। 'अमेरिका' पर एक बहुत ही अनुसंधान-पूर्ण ग्रन्थ वाजपेयीजी ने लिखा है, जो अभी प्रकाशित नहीं हो सका है। इधर 'ज्ञानमण्डल' द्वारा प्रकाशित 'समाचारपत्रों का इतिहास' वाजपेयीजी की हिन्दी और पत्रकार-जगत् को एक महत्त्वपूर्ण—अनूठी देन है। उसमें भारतीय समाचारपत्रों के सौ वर्षों (१८२६ ई० से १९२५ ई० तक) का प्रामाणिक इतिहास दिया गया है। भारत में मुद्रण-कला और समाचारपत्रों का श्री गणेश किस प्रकार हुआ, पत्र-प्रकाशन तथा संचालन आदि में कैसी कठिनाइयाँ सामने आईं और उनका प्रतिरोध सफलतापूर्वक करते हुए भारतीय समाचारपत्र किस प्रकार आगे बढ़ते गए, इसी का चित्रण वाजपेयीजी ने अपने पत्रकार-जीवन के ५० वर्ष के प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर इस ग्रन्थ में किया है।

———

स्वर्गीय पराड़करजी

सम्पादकाचार्य पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर का जन्म काशी में कार्त्तिक शु० ६ सं० १९४० (६ नवम्बर १८८३ ई०) को हुआ था। शिक्षा-दीक्षा बिहार में हुई, पत्रकारिता के प्रारम्भिक पाठ बंगाल में पढ़े और जीवन का उत्तरार्ध काशी में व्यतीत हुआ। वह जन्मना महाराष्ट्रीय होते हुए भी सही अर्थों में भारतीय—अखिल भारतीय ही नहीं, सार्वराष्ट्रीय थे। खादी की सादी पोशाक—कुरता-पाजामा पहने, चश्मा लगाए, हाथ में छड़ी लिए और टोपी पहने शान्त-गम्भीर मुद्रा में हिन्दी-पत्रकार-कला के आचार्य पंडित पराड़करजी के स्निग्ध व्यक्तित्त्व के दर्शन होते थे। ठिंगने कद, गौर वर्ण और झुर्रियों से युक्त उनके तेजस्वी मुखमण्डल पर कभी-कभी बढ़ाई गई दाढ़ी बहुत ही फबती थी। जीवन के विविधानुभवों के कारण उन्होंने एक ही जीवन में अनेक युगों के दर्शन किए थे।

पराड़करजी के पिता पं० विष्णु शास्त्री दस वर्ष की आयु में पूना से काशी चले आए थे। यहाँ आकर उन्होंने 'शास्त्री' परीक्षा उत्तीर्ण की और बाद में बिहार के सरकारी स्कूलों के हेड पंडित हो गए। उनका कर्म-क्षेत्र मुख्यतः बिहार का भागलपुर रहा। वहाँ के तेजनारायण कालेज में वह संस्कृत के अध्यापक भी थे। वह अत्यन्त तेजस्वी, अनुशासन-प्रिय और स्वतंत्र प्रकृति के विद्वान् थे।

पहले पराड़करजी स्थानीय वेदशाला में वेदाध्ययन करते थे। बाद में उन्होंने भागलपुर में संस्कृत का अध्ययन किया। वहीं से

उन्होंने इण्टर की परीक्षा उत्तीर्ण की और काशी चले आए। उस समय उनकी आयु १७–१८ वर्ष की थी। इसके २-३ वर्ष पूर्व उनके पिता का देहान्त हो चुका था। उन दिनों काशी में भयंकर प्लेग फैला हुआ था, जिसमें उनकी माता और कई बहनों का देहान्त हो गया। इस प्रकार घर में पराड़करजी ही बड़े रह गये। उल्लेख्य है कि कालेज-जीवन में भी पराड़करजी की धार्मिक कट्टरता अक्षुण्ण थी। वह उन दिनों शिखा में रुद्राक्ष और मस्तक पर भस्म लगाया करते थे। इण्टर उत्तीर्ण करने तथा परिवार के नष्ट होने पर पराड़करजी के सामने जीविका की समस्या थी। अतः उन्होंने काशी में एक जगह बीस रु० मासिक पर अध्यापन शुरू किया। उस समय तक वह हिन्दी के अनेक ग्रन्थों का अध्ययन कर चुके थे। इतना ही नहीं, अष्टादश पुराणों का पारायण भी कर चुके थे।

सन् १९०४ में उनकी कालेज की शिक्षा समाप्त हुई थी। उसके १ वर्ष बाद सन् १९०५ में काशी में काँग्रेस-अधिवेशन हुआ और पराड़करजी ने उसमें स्वयंसेवक के रूप में भाग लिया। इस प्रकार वह लोकमान्य तिलक सरीखे राष्ट्र-रत्नों के सम्पर्क में आए और उसी समय से उनके मन में देश-प्रेम की भावना उत्पन्न हुई। उन्हीं दिनों उनके मामा श्री सखाराम गणेश देउस्करजी अपनी कन्या के विवाह के सिलसिले में काशी आए और उनकी विचार-धारा तथा बातचीत से प्रभावित होकर पराड़करजी साप्ताहिक 'केसरी' नियमपूर्वक पढ़ने लगे। इस बीच वह डाक-तार-विभाग की सरकारी नौकरी के लिए आवेदन-पत्र भेज चुके थे और नियुक्ति-पत्र भी आ गया था, पर उन्होंने अस्वीकार कर दिया और वहाँ नहीं गए। उन्हें तो हिन्दी और हिन्दी-पत्रकारिता का उद्धार करना था! उसी समय कलकत्ते के 'हिन्दी बंगवासी' में सहायक सम्पादक की आवश्यकता का विज्ञापन निकला। पराड़करजी ने सहज

भाव से स्वयम् एक आवेदन-पत्र लिखकर भेज दिया और संयोग-वश आवेदन-पत्र की शैली से प्रभावित तथा प्रसन्न होकर पत्र के संपादक श्री हरिकृष्ण जौहरजी ने २५) मासिक का नियुक्ति-पत्र भेज दिया।

पराड़करजी कलकत्ता पहुँचे और 'बंगवासी' में कार्य करने लगे। यहीं से पराड़करजी का पत्रकार-जीवन शुरू होता है। वहाँ उनके मामा श्री देउस्करजी 'हितवादी' (बंगला पत्र) के सम्पादक थे। वहीं पराड़करजी रहते थे। वेतन कुल २५) मिलता था। जिस दिन मिलता, उसी दिन देउस्करजी २०) पराड़करजी के परिवार के लिए काशी भिजवा देते और शेष ५) में उनको हाथ-खर्च आदि की व्यवस्था करनी पड़ती थी। भोजन देउस्करजी के यहाँ करते थे। पराड़करजी कहा करते थे—"उन पाँच रुपयों में से पौने चार रुपए कलकत्ते की इम्पीरियल लाइब्रेरी जाने-आने में खर्च हो जाते थे।" इस प्रकार महान् कठिनाइयों में उन्होंने स्वाध्याय तथा जीविकोपार्जन किया, राष्ट्र-सेवा की और बाद में 'आज' के स्वर्ण-युग में भी वह पहले की भाँति ही सादगी से—एक रस रहे।

हाँ तो, 'बंगवासी' में कार्य करते हुए पराड़करजी के मन में देश-सेवा की भावना प्रबल रूपेण जागृत होती रही। देउस्करजी के यहाँ आने वाले अनेक क्रांतिकारियों के सम्पर्क में आने का उन्हें अवसर मिला। वह बीसवीं शताब्दी का आरंभ था। उन दिनों बंगाल के युवक-समाज की, गुप्त समितियों और क्रान्तिकारी विचारों के प्रति अत्यधिक आस्था थी। पराड़करजी भी क्रांति-कारी समिति के सदस्य बन गए, जिसका प्रधान कार्यालय चन्द्रनगर था। उन्हीं दिनों कलकत्ते में राष्ट्रीय शिक्षा के प्रचार-प्रसार के हेतु नेशनल कालेज स्थापित हुआ था। उसके प्रिन्सिपल थे श्री अरविन्द घोष। वहाँ विनयकुमार सरकार तथा राधाकुमुद मुखर्जी

सरीखे विद्वान् अध्यापक थे। सप्ताह में तीन दिन हिन्दी और मराठी पढ़ाना पराड़करजी स्वीकार कर चुके थे; पर 'बंगवासी' वाले इससे सहमत नहीं थे। इसके अतिरिक्त 'बंगवासी' की प्रतिक्रियावादी नीति—कांग्रेस की खिल्ली उड़ाना और उसकी कटु आलोचना करना—पराड़करजी को पसन्द नहीं थी। अतः अंत में वह 'बंगवासी' छोड़ने के लिए वाध्य हुए।

'बंगवासी' छोड़ने के बाद देउस्करजी ने पराड़करजी को 'हितवार्त्ता' में ४०) मासिक पर नियुक्त करा दिया। 'हितवार्त्ता' साप्ताहिक था और मुख्यतः वह साहित्यिक पत्र था; पर पराड़करजी ने उसे राजनीति-प्रधान बनाया। उस समय हिन्दी-पत्रों की परम्परा में यह एक नया प्रयोग था। सन् १९०७ से लगभग चार वर्षों तक वह 'हितवार्त्ता' का सम्पादन करते रहे। वहाँ कार्य करते हुए पराड़करजी पूर्वोक्त नेशनल कालेज में अध्यापन-कार्य भी करते थे।

हिन्दी के विशेषज्ञ न होते हुए भी देउस्करजी पत्र-कला के मर्मज्ञ थे। पराड़करजी उनके साथ ही कार्यालय जाया करते थे। वह बंगला-दैनिक 'हितवादी' के सम्पादक थे और वहीं से हिन्दी-साप्ताहिक 'हितवार्त्ता' निकलता था, जिसके सम्पादक थे पराड़करजी। देउस्करजी वार्त्तालाप के प्रसंग में कोई विषय आरंभ करके उसे 'विवाद' के रूप में परिणत कर देते थे। वह विवाद शुद्ध-सात्त्विक होता था। उसके व्याज से पराड़करजी को वह अनेक उपयोगी विषयों से परिचित कराते और उनका ज्ञान-वर्धन करते थे। वह पराड़करजी के विपक्ष में बोलते और जब पराड़करजी निरुत्तर हो जाते, तब वह भी चुप हो जाते। अन्त में, यदि पराड़करजी का पक्ष ठीक होता, तो उसे वह समझाते थे। उनके विवाद की शैली अनोखी थी। प्रातः उठते ही विवाद का श्री गणेश होता और नित्य-क्रिया पर्यन्त वह बन्द रहता। निवृत्त होते ही पुनः विवादारंभ होता और तब तक होता रहता, जब तक

दोनों महानुभाव कार्यालय न पहुँच जाते। कार्यालय से संध्या को घर लौटने पर जलपानादि कर पराड़करजी पुस्तकालय में अध्ययन-मनन तथा अन्वेषण के लिए जाते। इस प्रकार जब तक वह कलकत्ते में रहे, नित्य नियमपूर्वक इम्पीरियल लाइब्रेरी जाते रहे।

पराड़करजी के शब्दों में—"कहने को तो मैं सम्पादक बन गया था, पर कोई लेख तब तक नहीं लिखा था।" अतएव, लेख लिखने का प्रश्न उपस्थित हुआ। उन दिनों हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान् पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र उर्फ दुर्गू जी वहीं निवास करते थे। पराड़करजी उनके सम्पर्क में आए और उनसे लेखन-कार्य में उनको पर्याप्त सहायता मिली। हिन्दी के उद्भट विद्वान् पंडित गोविन्दनारायण मिश्रजी से भी पराड़करजी ने सम्पर्क स्थापित किया। तत्कालीन समाचारपत्रों में आधुनिक युग की भाँति राजनीतिक विषयों की महत्ता नहीं थी। धार्मिक तथा सामाजिक विवाद ही पत्रों के प्रधान विषय थे। इस कारण गंभीर निबंधादि का अभाव था। हिन्दी-समाचारपत्रों में गम्भीर राजनीतिक साहित्य प्रस्तुत करने वाले पत्रों में 'हितवार्त्ता' का प्रथम स्थान था। उन दिनों पत्रकारिता में विषय की महत्ता गौण रहती थी और भाषा पर विशेष जोर दिया जाता था। लेख में भाषा-विषयक एक भी अशुद्धि रहती, तो तत्काल अन्य समाचारपत्रों तथा विद्वानों के लिए वह चुटकी लेने का विषय बन जाती थी। यही कारण है कि तत्कालीन पत्रों में भाषा-विषयक त्रुटियों का सर्वथा अभाव था, आज-जैसी धाँधली नहीं थी।

सन् १९१०-'११ में 'हितवार्त्ता' का प्रकाशन स्थगित हो चुका था। श्रद्धेय पं० अंबिकाप्रसाद वाजपेयीजी से पराड़करजी का पूर्व-परिचय था। वाजपेयीजी उस समय 'भारतमित्र' में थे। उन्होंने वाजपेयीजी के साथ संयुक्त संपादक के रूप में 'भारतमित्र'

में कार्य शुरू किया। वहाँ पराड़करजी को साठ रुपये मिलते थे। इस बीच लगभग चार वर्ष तक पराड़करजी नजरबन्द रहे और बाद में काशी लौट आए। यहाँ आकर वह 'आज' का सम्पादन करने लगे। उस समय की स्थिति पराड़करजी के शब्दों में इस प्रकार है—"...उस समय मैंने 'लो' और 'दो' का पाठ पढ़ा था। मारने और मार सहने का सिद्धांत मानने वाला था। यहाँ आने पर स्व० श्री शिवप्रसाद गुप्त और श्रीप्रकाशजी ने मुझे दूसरा ही आदर्श सिखाया। उन्होंने सिखाया कि मारना कायरता है। उनका यह पाठ मैं मुश्किल से सीख पाया। अक्सर मैं आपे से बाहर हो जाता, तब वह समझाते कि ऐसा नहीं होना चाहिए। 'आज' के बनाने का जो श्रेय मुझे दिया जाता है, उसका वास्तविक अधिकारी मैं नहीं, स्व० श्री शिवप्रसादजी और श्रीप्रकाशजी ही हैं।" पर यह सर्व-विदित है कि सन् '२० में 'आज' को आत्म-समर्पण करके वह सक्रिय राजनीति तथा पृथक् साहित्य-सृजन से तटस्थ-से हो गये थे। 'आज' के माध्यम से उन्होंने न केवल उच्च स्तरीय पत्र-कला को ही जन्म दिया, अपितु उच्च कोटि का पत्र-साहित्य भी दिया। उनके लेखों की समाज पर बड़ी क्रान्तिकारी प्रतिक्रिया होती थी। अपनी निर्भीकता एवं निष्पक्षता के कारण द्वितीय महायुद्ध के दिनों में 'आज' ने महान् संकटों का सामना किया; किन्तु सत्य की नींव पर आधारित होने के कारण वह अविचल और आदर्श बना रहा। 'आज' का मत लोक-मत माना जाता था और पराड़करजी के अग्रलेखों से अमेरिका और रूस—दोनों दलों के समाचारपत्र सम रूपेण उद्धरण देने में अपना गौरव समझते थे। यदि हम यह कहें तो अत्युक्ति न होगी कि जो काम मासिक पत्रकारिता में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीजी ने किया, लगभग वही पराड़करजी ने दैनिक पत्रकारिता में। पराड़करजी के अग्रलेखों और टिप्पणियों की प्रतिष्ठा विचारों की गहराई,

निष्पक्षता, निर्भीकता और सचाई के कारण है और उनकी भाषा तथा शैली ने नई पीढ़ी के पत्रकारों का मार्ग-प्रदर्शन किया है और सदा करती रहेगी। प्रेस-आयोग ने 'आज' को एक प्रतिष्ठित संस्था माना है, जो सर्वथा उचित है। 'आज' और उसके संस्थापक राष्ट्र-रत्न स्व० श्री शिवप्रसादजी गुप्त के माध्यम से पराड़करजी के रूप में काशी को, इस प्रदेश को, इतना ही नहीं—इस देश को एक ऐसा व्यक्ति मिला, जिसने हिन्दी तथा हिन्दी-पत्रकारिता के लिए इतना विशद कार्य किया, जिसका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। हिन्दी का स्वरूप जैसा यहाँ से निखरा, सुन्दर, शुभ्र, तेजस्वी और ओज-पूर्ण हिन्दी के जिस रूप को पत्रकार-जगत् ने स्वीकार किया, अपनाया, उसका श्रेय पराड़करजी को ही है। यही उनकी साधना का चरम लक्ष्य भी था।

'आज' के अतिरिक्त पराड़करजी ने काशी के दैनिक 'संसार', मासिक 'कमला' एवं 'रणभेरी' का सम्पादन किया था। 'हंस' के 'प्रेम-चन्द-स्मृति-अंक' के सम्पादक भी पराड़करजी ही थे। सम्पादन-कार्य में निरन्तर व्यस्त रहने के कारण वह ग्रन्थों के रूप में हमें अतिरिक्त रचनाएँ न दे सके। उन्होंने एक बार कहा था—"मेरी, अपने जीवन में अब कोई साध नहीं रह गई है। यदि भगवान् ने चाहा तो 'हिन्दी-व्याकरण', जिसकी मेरे मित्र मुझसे माँग कर रहे हैं, तथा और भी दो-एक पुस्तकें तैयार करने का विचार है।" और, इसमें सन्देह नहीं कि उनकी वे कृतियाँ बेजोड़ होतीं। उनके केवल दो ग्रन्थ कलकत्ता-वास के दिनों में प्रकाशित हुए थे। १—स्वर्गीय देउस्करजी की क्रान्तिकारी पुस्तक 'देशेर कथा' का हिन्दी-अनुवाद 'देश की बात' और २—'श्रीमद्भगवद्गीता' का अनुवाद। गीतानुवाद के प्रारम्भ में लिखी गई उनकी संक्षिप्त भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और उप-योगी है; पर खेद है कि उनकी ये दोनों पुस्तकें अप्राप्य हैं।

अ० भा० हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का २७वाँ अधिवेशन

सन् १९३८ में शिमला में पराड़करजी के सभापतित्त्व में सम्पन्न हुआ था। 'सम्मेलन' ने उनको 'साहित्यवाचस्पति' की सम्मानित उपाधि भी भेंट की थी। नवम्बर '५३ में राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, वर्धा की ओर से अहिन्दी भाषी साहित्य-सेवी होने के उपलक्ष्य में पराड़करजी को १५०१) का 'महात्मा गांधी' पुरस्कार मिला था। इसके अतिरिक्त सन् '५० में बम्बई में मराठी-साहित्य-सम्मेलन के अन्तर्गत हुए पत्रकार-सम्मेलन की अध्यक्षता पराड़करजी ने की थी।

राजनीतिक नेताओं की श्रेणी में न होते हुए भी पराड़करजी नेताओं के नेता थे। उन्होंने अनेक सुयोग्य पत्रकार, लेखक और नेता बनाए। उनकी हिन्दी-सेवा कई मार्गों की ओर मुड़ी हुई है। एक आदर्श पत्रकार बनने के लिए पराड़करजी के जीवन से प्रेरणा लेनी चाहिए। वह कहा करते थे—"सफल पत्रकार बनने के लिए सब से पहली बात तो यह है कि पत्रकार में काम करने की लगन हो। केवल नौकरी की भावना से काम करके कोई सफल पत्रकार नहीं बन सकता।" उनके इन शब्दों में पत्रकार-जीवन का रहस्य छिपा है। पत्रकारिता उनके लिए वस्तुतः एक मिशन थी। उनके ये शब्द सदा मेरे कानों में गूँजा करते हैं—

"पत्रकार-क्षेत्र में मैं देश-सेवा की दृष्टि से आया था। धन अथवा यश की इच्छा न उस समय थी, न आज है। शिक्षा समाप्त करने के बाद मेरे सामने दो ही मार्ग थे—सरकारी स्कूलों में मास्टरी या पत्रकारिता। दोनों स्थानों के नियुक्ति-पत्र मेरे सामने थे। पर मैंने पत्रकारिता को ही श्रेयस्कर समझा; क्योंकि यहाँ मेरे लिए देश-सेवा का अधिक अवसर था और अपने पत्रकार-जीवन में मैं यथा शक्ति देश की सेवा करता रहा हूँ, और तब तक करता रहूँगा, जब तक असमर्थ नहीं हो जाऊँगा।"

और, अपनी इस प्रतिज्ञा का अक्षरशः पालन करते हुए वह १२ जनवरी '५५ को परलोक सिधार गए!

श्रद्धेय गर्देजी

सम्पादकाचार्य पं० लक्ष्मण नारायण गर्दे का जन्म काशी में संवत् १६४६ की महाशिवरात्रि के लगभग हुआ था। उनके पिता पं० नारायण राव गर्दे रत्नागिरी जिले के तेरे नामक ग्राम में रहते थे। वहाँ उनकी कुछ जायदाद थी; पर उन्होंने उस ओर ध्यान नहीं दिया। आज भी गर्देजी के परिवार के कुछ लोग रत्नागिरी के संगमेश्वर तालुके में हैं। गर्देजी करहाड़ शाखा के महाराष्ट्र ब्राह्मण हैं।

गर्देजी के पितामह सागर (म० प्र०) आकर अर्थोपार्जन करने लगे थे। बाद में वह काशी चले आए और यहीं रहने लगे। यहाँ उन्होंने कुछ जमींदारी खरीद ली और मकान बनवाया। उन्होंने सागर वाले अपने स्वामी की स्मृति में एक शिव-मंदिर की प्रतिष्ठा भी करायी।

गर्देजी के पिता १८ वर्ष की अवस्था में काशी आए थे। उस समय उनका वेदों का अध्ययन पूर्ण हो चुका था। पितामह का देहांत हो चुका था और पितामही अपनी ननद के पुत्र (गर्देजी के पिता) को गोद लेकर यहीं रहती थीं। वह यहाँ इलाके का काम देखते थे। घर का काम भी करते थे।

अपने माता-पिता के सम्बन्ध में गर्देजी कहते हैं—

"वह बहुत धर्मनिष्ठ पुरुष थे। गीता के परम भक्त, धीर, गम्भीर, विनोदी और साहसी थे। पूजा-पाठ में ही उनका सारा समय बीतता था। दिन भर देहात में भी पूजा-पाठ करते थे और रात्रि में

भोजन करते थे। माता के मुख से कभी कठोर शब्द निकला ही नहीं। वह झगड़ा तो जानती ही नहीं थीं। माता और पिता के सम्बन्ध में अधिक क्या कहूँ? मैं अभी तक उनका ध्यान करता हूँ।"

गर्देजी की माता सप्रे-घराने की थीं। परिवार के सम्बन्ध में गर्देजी ने बताया—

"मेरे तीन बड़े भाई थे। तीनों के प्रति, पिता के बाद मेरी वैसी ही आस्था थी, जैसी पिता में। इसी के अनुरूप उनके सुयोग्य और आनन्द-वर्धन करने वाली पुत्र-पुत्रियाँ मेरे लिए वैसी ही अभिन्न हैं, जैसी मेरी पुत्र-पुत्रियाँ।"

पिता के सभी गुण गर्देजी को पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुए। गीता के प्रति श्रद्धा का बीजारोपण करने वाले उनके पिता ही थे। उन्हीं से गर्देजी को अपनी पूर्व-परम्परा की शिक्षा मिली। उन्होंने जो वैदिक सूक्त गर्देजी को सिखाए थे, वे उनको अच्छी तरह स्मरण हैं और उनके कुछ अंशों का पाठ वह अभी तक करते हैं। यज्ञोपवीत का मंत्र भी उनको पिता ने ही दिया था।

शैशव के संबंध में गर्देजी ने कहा—

"बचपन में मैं सभी तरह के उपद्रवियों के बीच रहता था; किंतु होली सरीखे अवसर पर भी कभी मेरे मुख से गाली या अश्लील शब्द नहीं निकले। बड़े-बूढ़ों को सताने की भी मेरी मनोवृत्ति नहीं थी; बल्कि दूसरे उपद्रवी साथियों द्वारा सताए गए लोग मेरे पास सहायता के लिए आते थे। साथियों की मण्डली तगड़ी होने पर भी मुझसे डरती थी। उस समय भी तमीज थी—उसमें भी 'सम्पादन' चलता था।"

काशी में आंग्रे के बाड़े में स्थित अन्ना गुरुजी की पाठशाला में गर्देजी ने सर्व प्रथम मराठी का अध्ययन किया। उसके बाद

ब्रह्माघाट नामक मुहल्ले में 'महाराष्ट्र-स्कूल' में मराठी की तीसरी कक्षा तक पढ़े। फिर उसी स्कूल में ५ वीं कक्षा तक अंगरेजी पढ़ी। कक्षा ६ से ८ तक 'क्विन्स कालेजिएट स्कूल' में पढ़ने के अनंतर वह झाँसी चले गए और वहाँ के 'मैकडानल हाई स्कूल' से नवीं कक्षा उत्तीर्ण की। वहाँ से काशी आकर वह 'सेन्ट्रल हिन्दू कालेज' की १० वीं कक्षा में भरती हुए। वहाँ से सन् १९०७ में साइन्स लेकर स्कूल-फाइनल-परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। १० वीं कक्षा उत्तीर्ण करने के बाद वह सेन्ट्रल हिन्दू कालेज की इन्टरमीडिएट कक्षा में केवल नौ मास तक अध्ययन कर सके; क्योंकि स्वदेशी आन्दोलन में भाग लेने लगे थे। जब वह १० वीं कक्षा में थे, उन दिनों स्वदेशी आन्दोलन चल रहा था। उसी में लगे रहने के कारण अध्ययन बन्द-सा हो गया था। वस्तुतः परीक्षा के हथौड़े के नीचे प्रतिभा नहीं गढ़ी जाती—उलटे उसके चूर-चूर हो जाने की सम्भावना रहती है। यदि गर्देजी उस हथौड़े के नीचे से न निकल भागते तो हिन्दी को ऐसा पत्रकार और संत-साहित्यिक प्राप्त न होता।

हाँ तो, विद्यार्थी-जीवन में गर्देजी कई डिबेटिंग सोसाइटियों में भी योग देते, भाषण करते तथा राष्ट्रीय उत्सव आदि के कार्यों में भाग लेते थे। उसी समय उन्होंने अपने कुछ मित्रों के साथ 'महा-राष्ट्र-स्कूल' के भवन में एक 'ज्ञान-संवर्धिनी सभा' स्थापित की थी। उसमें राष्ट्रीय आंदोलन और स्वाधीनता की चर्चा होती, निबन्ध पढ़े जाते और व्याख्यान हुआ करते थे। ऐसी कई अन्य संस्थाएँ भी थीं, जिनमें यही काम होते थे। गर्देजी उनमें भी भाग लेते; क्योंकि "दिमाग में यही बात घुसी हुई थी कि अब अपने को यही काम करना है।"

कालेज छोड़ने के बाद गर्देजी ने एकदम बम्बई की यात्रा की।

इससे कुछ मास पूर्व विवाह हो चुका था। यह दूसरा विवाह था। पहला विवाह तो बहुत बचपन में हुआ था। दूसरी पत्नी बंगाल की आईं—स्व० पं० सखाराम गणेश देउस्करजी की कन्या। देउस्करजी पराड़करजी के रिश्ते में मामा भी थे। इस प्रकार गर्दे-पराड़कर परिवार में काफी निकट-सम्बन्ध रहा है। देउस्करजी की पुत्री से द्वितीय विवाह होने के कारण तथा देश में उस समय राजनीतिक आंदोलन में बंगालियों का विशेष हाथ होने के कारण, गर्देजी बंगला भाषा सीखने की ओर प्रवृत्त हुए और उसमें उनको अपूर्व सफलता मिली। उनके शब्दों में—"यह एक प्रकार की प्रीति का आकर्षण होने से काशी में दशाश्वमेध घाट पर बंगला भाषा के साइनबोर्डों को देखकर तथा पुस्तक-समाचारपत्रादि के माध्यम से बंगला सीख ली।"

बंबई में उस समय लोकमान्य तिलक का द्वीपान्तर-वास हुआ था। वह मण्डाले जेल भेजे जा चुके थे। वहाँ कुछ गुप्त मंडलियों के सभासदों से गर्देजी की बातचीत हुई, पर अखबारी दुनिया की कोई अपने मन की चीज उनको नहीं मिली। स्व० श्री माधव-राजाराम बोड़स लोकमान्य के साथी थे। उनके आग्रह और उन्हीं की सिफारिश से गर्देजी 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार' में काम करने गए। वहाँ कार्यालय में पहले दिन ही उसके सम्पादक श्री चंदूलालजी ने गर्देजी से पूछा—"क्या आप बंगला जानते हैं?" उत्तर था—"हाँ।" एक पत्र का अनुवाद भी गर्देजी ने उस समय किया, जो उन्होंने दिया था। अनुवाद देखकर गर्देजी से वह बोले—"आपका काम बहुत आशाजनक है और आज से आप यहीं काम कीजिए।" पर आन्दोलन का जो स्वरूप सामने रखकर गर्देजी बम्बई गए थे, उसके अनुसार वहाँ कोई चीज न मिलने के कारण उनका मन नहीं लगा और कुल सात दिन काम करने के अनंतर वहाँ से थाना तथा पूना की यात्रा करके काशी लौट आए।

लोकमान्य तिलक के चले जाने से महाराष्ट्र में कुछ ऐसी ग्लानि छाई हुई थी कि लोग कहा करते—"लोकमान्य के बिना महाराष्ट्र निष्प्राण हो गया है।" गर्देजी थाना में मराठी 'हिन्दू पंच' के कार्यालय में एक दिन ठहरे थे। एक दिन ठहरकर और उसी दिन 'अरुणोदय' पत्र के लिए प्रथम एक अग्रलेख मराठी में लिखकर तथा पूना में श्री नरसिंह चिंतामणि केलकरजी से मिलकर काशी लौट आए थे। पूना के मराठी 'लोक-संग्रह' (दैनिक) के एक विशेषांक में भी राष्ट्रपिता बापू के पक्ष में केवल गर्देजी का ही लेख छपा था। महाराष्ट्र के सभी प्रसिद्ध लेखकों का मत तत्कालीन असहयोग-आन्दोलन के विपक्ष में था। लोकमान्य का वह बहुत प्रिय पत्र था।

गर्देजी की इच्छा थी कि बम्बई की यात्रा तो हो चुकी, अब कलकत्ते की सैर हो जाय तो अच्छा होगा। कलकत्ते में उनके श्वसुर श्री देउस्करजी के अतिरिक्त पराड़करजी भी थे, जो उन दिनों 'हितवार्त्ता' के सम्पादक थे। इन्हीं दोनों महानुभावों की राय हुई कि गर्देजी कलकत्ते आकर किसी समाचारपत्र से सम्बन्ध जोड़कर अपना कर्म-क्षेत्र निर्माण करें। गर्देजी के शब्दों में—"मेरे इन्हीं शुभचिन्तकों ने 'बंगवासी' पत्र वालों से बातचीत की होगी।" उन दिनों उस पत्र के सम्पादक स्व० श्री हरिकृष्ण जौहरजी थे। गर्देजी वहाँ सहकारी का कार्य करने लगे। यहीं से गर्देजी अपने पत्रकार-जीवन का आरंभ मानते हैं। इसके बाद किसी 'अक्खड़पन' में उन्होंने 'बंगवासी' छोड़ दिया और सम्पादकाचार्य पं० अम्बिका-प्रसाद वाजपेयीजी के प्रधान सम्पादकत्व में उनके सहकारी के रूप में 'भारतमित्र' में काम करने लगे। वहाँ काम करते हुए गर्देजी ने 'महाराष्ट्र-रहस्य' नाम से एक लेखमाला 'भारतमित्र' में चलाई थी, जो बाद में उसी नाम से पुस्तक-रूप में प्रकाशित हुई। महाराष्ट्र के शिवाजी-कालीन अभ्युदय के कारणों की दार्शनिक मीमांसा उसमें

गर्देजी ने की थी और उस पर 'माडर्न रिव्यू' आदि प्रतिष्ठित पत्रों ने जो आलोचना की, उससे गर्देजी को यह मालूम हुआ कि उनका प्रयास नगण्य नहीं है।

संयोगवश 'भारतमित्र' में भी गर्देजी अधिक समय तक नहीं रहे। उनके शब्दों में—"फिर वहाँ अक्खड़पन के कारण पंडित वाजपेयीजी जैसे श्रद्धेय और हितचिंतक का साथ छोड़ बैठा।" इसके पश्चात् गर्देजी कलकत्ते के 'विशुद्धानन्द विद्यालय' में हिन्दी के शिक्षक नियुक्त हुए। यह काम करते हुए वहाँ उनसे भारतीय दर्शनों के मर्मज्ञ एक कनफटे साधु से भेंट हुई, जिन्हें वह 'ब्रह्मचारीजी' के नाम से स्मरण करते हैं। उनके दर्शन से तथा उनकी अर्थ-गंभीर वाणी से प्रभावित होकर गर्देजी ने उनसे १८ दिनों में १८ अध्याय गीता पढ़ी और फिर काशी चले आए। यहाँ आकर उन्होंने सर्व प्रथम 'सरल गीता' नामक टीका लिखी, जो किसी भाष्य के आधार पर नहीं, अपितु सर्वथा मौलिक है। स्व० श्री सी० एफ० एण्ड्रूज ने 'सरल गीता' फिजी के प्रवासी भारतीयों के लिए भेजी थी। इस प्रकार द्वीपान्तर तक उसका प्रचार हुआ। अब तक उसकी हजारों प्रतियाँ प्रसारित हो चुकी हैं; किन्तु इधर बहुत दिनों से अप्राप्य है। कई वर्षों तक उसकी बहुत माँग थी। कई सज्जनों का उसके प्रकाशनार्थ आग्रह भी है; पर गर्देजी कहते हैं—"धीरे-धीरे लोग उसे भूलते जा रहे हैं। जब बिलकुल भूल जायँगे, तब ठीक होगा।" पहले-पहल जब गर्देजी ने उसे लिखा था, तब ऐसा संकल्प किया था कि २५ वर्षों के बाद अधिक अनुभव होने पर फिर से लिखेंगे; किन्तु उक्त अवधि से अधिक समय व्यतीत होने पर भी अभी तक वह उसमें संशोधन-परिवर्धन कर सन्तुष्ट नहीं हो सके हैं। यह सन् १९०९ से १९११ तक का करीब २॥–३ वर्ष का जीवन-वृत्त हुआ।

काशी आकर गर्देजी ने करीब १॥–२ वर्ष तक 'हरिश्चन्द्र स्कूल'

में अध्यापन कार्य किया। उन्हीं दिनों माननीय श्री सम्पूर्णानन्दजी भी वहाँ अध्यापक होकर पहुँचे थे। काशी नागरीप्रचारिणी सभा के संस्थापक स्वनामधन्य स्व० पं० रामनारायणजी मिश्र भी वहीं थे। गर्देजी के कथनानुसार इन दोनों महानुभावों का उन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा।

अध्यापन करते हुए गर्देजी ने अपने मित्र स्व०श्री गणपति कृष्ण-गुर्जरजी से मिलकर एक 'ग्रंथ-प्रकाशक-समिति' स्थापित की, जिससे दो ग्रंथ गर्देजी के और दो ग्रंथ गुर्जरजी के सर्व प्रथम प्रकाशित हुए। गुर्जरजी के शेक्सपियर के 'हैमलेट' (नाटक) तथा टॉलस्टॉय के कुछ लेखों का अनुवाद और गर्देजी की पूर्वोक्त 'सरल गीता' और 'महाराष्ट्र-रहस्य' वाली लेखमाला पुस्तकाकार में प्रकाशित हुई थी। गर्देजी कहते हैं—"महाराष्ट्र-रहस्य बहुत छोटी-सी पुस्तक है और उसकी जो आलोचनाएँ निकलीं, उनसे मालूम हुआ कि उसमें कुछ है। 'सरल गीता' ने तो मुझ पर हर तरह से कृपा की वर्षा की। उसकी आलोचनाएँ सर्वत्र निकलीं; पर उनमें से तीन आलोचनाएँ मुझे विशेष रूप से याद हैं। एक स्व० पं० महावीर-प्रसाद द्विवेदी की, दूसरी स्व० पं० भीमसेन शर्मा की और तीसरी स्व० पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर की। पराड़करजी ने बहुत लम्बा लेख 'भारतमित्र' में लिखा था और उसको पढ़कर मुझे ऐसा लगा कि मैंने यह पुस्तक लिखी है, इसलिए पराड़करजी प्रेमवश इसका खूब प्रचार चाहते हैं। द्विवेदीजी ने जो कुछ लिखा, अत्यंत संक्षिप्त था; पर बहुमूल्य रत्नों के समान तेज-युक्त! शर्माजी ने जा कुछ लिखा, उससे, उनकी विद्वत्ता का तो मैं कायल था ही, सरलता का भी कायल हो गया और उनके प्रशंसोद्गारों को मैंने अपने लिए आशीर्वाद समझा। भगवद्गीता की इस कृपा को मैं कभी भूल नहीं सकता। मेरे लिए वह कल्पतरु बनी। अब कल्पतरु की छाया में रहते हुए मैंने उससे कुछ चाहा या नहीं, यह बात दूसरी है।"

उसी समय काशी से गर्देजी ने गुर्जरजी के साथ 'नवनीत' नाम से एक मासिक पत्र प्रकाशित किया था। अध्यापकी छोड़ चुके थे; क्योंकि प्रकाशन में फँस गए थे। 'नवनीत' २-२॥ वर्ष चला, फिर बन्द हो गया; पर इस अल्प काल में उसमें जो लेख निकले और वह पत्र कैसा था, इस सम्बन्ध में गर्देजी ने मुझे बताया—"यह मेरे कहने की चीज नहीं है; पर 'नवनीत' को इतना गौरव अवश्य प्राप्त है कि उसमें श्री सम्पूर्णानन्दजी, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी और स्व० पं० रामनारायण मिश्र लिखा करते थे। और भी कई विद्वानों ने पहले-पहल 'नवनीत' में लिखा है। श्री सम्पूर्णानन्दजी की साहित्य-सेवा का आरम्भ इसी पत्र से समझना चाहिए; क्योंकि उनका सबसे पहला लेख और पहले ग्रंथ का कुछ भाग 'नवनीत' में ही छपा था। श्री हनुमान्प्रसादजी पोद्दार (जिनकी साहित्य-सेवा का कोई पार नहीं है) का पहला लेख इसी पत्र में छपा था और इन महानुभावों के वे लेख बहुत मूल्यवान् हैं।"

श्रद्धेय डॉ० भगवान्दासजी ने कहा था—"यह तो मक्खन है, पर इस समय लोगों को दूध की आवश्यकता है।" इस कारण तथा धनाभाव से वह प्रकाशन बन्द करना पड़ा। 'नवनीत' और 'ग्रंथ-प्रकाशक-समिति' के प्रसंग में रायबरेली के (अब लखनऊ के) श्री चिन्तामणि पाण्डेयजी की याद गर्देजी को बराबर आती है, जो उनके इस कार्य में अनेक प्रकार से सहायक थे और उनके पू० पिताजी का भी स्मरण हो आता है, जिन्होंने 'सरल गीता' को सिर-आँखों उठाकर उनको वात्सल्य-पूर्ण आशीर्वाद दिया था।

राष्ट्ररत्न स्व० श्री शिवप्रसादजी गुप्त के व्यक्तित्त्व के प्रति गर्देजी की श्रद्धा पहले से ही थी। बाद में वह उनके बहुत निकट सम्पर्क में पहुँच गए और शायद यह बहुत कम लोगों को मालूम है कि

'ज्ञानमण्डल' की स्थापना में और उसका भावी कार्यक्रम बनाने में सबसे पहले शिवप्रसादजी के साथ गर्देजी ही थे। श्री श्रीप्रकाशजी शायद उस समय 'लीडर' के सहकारी सम्पादक थे। स्व० श्री रामदासजी गौड़ भी कुछ दूर थे। पीछे इन दोनों सज्जनों का संयोग 'ज्ञानमण्डल' को प्राप्त हुआ। 'ज्ञानमण्डल' से जो पहला ग्रंथ 'मांटेगूचेन्सफोर्ड रिपोर्ट' का हिन्दी-अनुवाद निकला, वह मुख्यतः गर्देजी और श्रीप्रकाशजी ने मिलकर किया था। इसके बाद श्री शिवप्रसादजी को काउण्टबेहारा की जापान-सम्बन्धी एक पुस्तक बहुत प्रिय लगी और उन्होंने उसका हिन्दी-अनुवाद करने का काम गर्देजी को सौंपा। 'ज्ञानमण्डल' में उस समय गर्देजी के सिवा था ही कौन? उस समय लोग गर्देजी को 'ज्ञानमण्डल' का 'अध्यक्ष' कहते थे।

इसी बीच सुप्रसिद्ध विद्वान्—नेपाल के राजगुरु स्व० पं० हेमराजजी शर्मा ने अपने 'सरस्वती-भवन' के विशेष कार्य के लिए गर्देजी को आमंत्रित किया। शिवप्रसादजी ने किसी विशेष हेतु से नेपाल जाने की अनुमति दे दी। गर्देजी काउण्टबेहारा की वह पुस्तक साथ लेकर नेपाल गए और वहीं उन्होंने उसका अनुवाद किया। गर्देजी को कांग्रेस-अधिवेशन में सम्मिलित होने की इच्छा विशेष रहती थी और सन् १९१७ में कांग्रेस के कलकत्ता वाले अधिवेशन के लिए वह नेपाल से ही गए थे। उस समय शिवप्रसादजी को साथ लेकर वह लोकमान्य तिलक के दर्शन करने उनके डेरे पर भी गए थे। शिवप्रसादजी और लोकमान्य तिलक की शायद यह पहली ही भेंट थी। तिलकजी से गर्देजी की प्रथम भेंट सन् १९१६ की लखनऊ वाली कांग्रेस में हो चुकी थी। उनके दर्शन तो वह सन् १९०५ में काशी की कांग्रेस के अवसर पर कर चुके थे। प्रारंभ से ही राजनीति में विशेष रुचि रहने के कारण

गर्देजी लोकमान्य का प्रसिद्ध पत्र 'केसरी' बड़े चाव से पढ़ने लगे थे।

नेपाल का कार्य समाप्त करके गर्देजी सन् १९१८ में किसी समय काशी लौट आए और 'ज्ञानमण्डल' का कार्य पूर्ववत् करने लगे। जापान-सम्बन्धी उक्त पुस्तक वह इससे पहले 'ज्ञानमण्डल' को भेज चुके थे। इस पुस्तक के नामकरण के सम्बन्ध में एक मनोरंजक घटना हुई। पुस्तक के अंग्रेजी नाम का अनुवाद करके हिन्दी में गर्देजी ने उसका नाम 'जापान की राजनीतिक प्रगति' रखा था। पुस्तक जब श्रद्धेय डॉ० भगवान्दासजी के सामने आई, तब उन्होंने कहा—"प्रगति नाम ठीक नहीं है। संस्कृत में ऐसा कोई शब्द नहीं है।" स्व० श्री रामदासजी गौड़ ने भी इस 'प्रगति' नाम का विरोध किया। स्व० पं० पद्मसिंहजी शर्मा भी उन दिनों 'ज्ञानमण्डल' में थे। उन्होंने अर्ध-मौन रहकर गौड़जी का समर्थन किया। शिवप्रसादजी की एक दलील थी कि "गर्देजी ने जब इसका नाम यह रखा है, तब मैं बिना उनसे पूछे इसका नाम बदल नहीं सकता।" शिवप्रसादजी का गर्देजी पर विलक्षण स्नेह था और गर्देजी का किया हुआ नामकरण बदलने की कल्पना वह सह नहीं सकते थे और उन्होंने कहा—"मैं तो यह राय नहीं दूँगा कि यह नाम बदला जाय। गर्देजी जब आवेंगे, तब देखा जायगा।"

जब गर्देजी नेपाल से आए, तब शिवप्रसादजी ने उनसे कहा—"देखिए, ये लोग 'प्रगति' शब्द को अशुद्ध बताते हैं।" पं० पद्मसिंहजी शर्मा से गर्देजी की इतनी अधिक घनिष्ठता थी कि उनसे जब गर्देजी ने पूछा—"क्या 'प्रगति' शब्द अशुद्ध है?" तब उन्होंने कहा—"आप उसके लेखक हैं और आपने उसके लेखक के नाते लिखा है, तब वह अशुद्ध कैसे हो सकता है? और, लेखक की इच्छा तो मुख्य निर्णायक है।" तब शिवप्रसादजी ने गर्देजी से

कहा—"अब आप डॉ० भगवान्दास से समझ लीजिए।" इस सम्बन्ध में स्वयम् गर्देजी के इन शब्दों को प्रस्तुत करना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है—"डॉ० भगवान्दास जैसे महामान्य विद्वान्, शांत और आदर्श पुरुष के सामने अपना कोई हठ ले जाना आज तो उचित नहीं लगता है, पर उस समय यही धुन थी कि अब संस्कृत-साहित्य के प्रमाणों से इस शब्द की सिद्धता करनी होगी और मेरा संस्कृत का ज्ञान चाहे जो भी हो, मैं इतना जानता था कि यह शब्द बिलकुल शुद्ध है और इसके प्रमाण ढूँढ़ने का काम मैंने अपने मित्र स्व० पं० सीताराम शास्त्री केलकर को सौंप दिया। उन्होंने बड़ा परिश्रम किया और बहुत से प्रमाण लेकर वह आए। कोश भी देखे गए, 'ज्ञानमण्डल' में इसकी चर्चा हुई और यह तय हुआ कि पुस्तक का यही नाम रहेगा। इसमें मेरे हठ की अपेक्षा शिवप्रसादजी का स्नेह विशेष रूप से दर्शनीय है।"

पीछे शिवप्रसादजी से एक बात पर गर्देजी का कुछ झगड़ा हो गया। है बात कुछ विलक्षण-सी, पर सच्ची है कि मनुष्य अपने सिद्धांत पर और अपने व्रत पर स्वाभिमान के साथ बना रहे तो ईश्वर उसका सारा भार अपने ऊपर ले लेता है। इस्तीफा देने के २-३ दिन के बाद ही दैनिक 'भारतमित्र' के डाइरेक्टर का एक तार गर्देजी को मिला—"यहाँ कार्य-भार लेने के लिए आप शीघ्र चले आवें।" पीछे चिट्ठी भी आई। उस समय 'भारतमित्र' के सम्पादक श्रद्धेय पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयीजी थे। मैनेजिंग डाइरेक्टर की अपेक्षा वह गर्देजी के अधिक निकट थे; इसलिए गर्देजी ने सोचा कि वाजपेयीजी की इच्छा और अनुमति से ही मैनेजिंग डाइरेक्टर का यह अनुरोध स्वीकार किया जा सकता है।

सन् १९१८ की दिल्ली-कांग्रेस का वह समय था। गर्देजी कांग्रेस के लिए पहले दिल्ली गए। वहाँ वाजपेयीजी से उनकी भेंट

हुई। उनसे गर्देजी ने तार और चिट्ठी की बात बताई और उनकी सम्मति पूछी। उन्होंने कहा—"आप आइए, पर सब बातें पहले से पक्की करके आइए।" इस तरह गर्देजी 'भारतमित्र' में पुनः पहुँचे। कार्यालय में उपस्थित होते ही वाजपेयीजी ने सम्पादक-मण्डल से कहा—"आपके भावी सम्पादक आ गए।" उस समय गर्देजी ने कहा था—"भावी सम्पादक नहीं, आपके सहकारी आ गए।" पीछे वाजपेयीजी की यह वाणी सत्य हुई। गर्देजी के शब्दों में—"यद्यपि मैं नहीं चाहता था कि यह वाणी सत्य हो। यह बिलकुल सच्ची बात है कि वाजपेयीजी के सहकारी के रूप में कार्य करते हुए मुझे जो आनन्द और निश्चिन्तता थी, उसको मैं खोना नहीं चाहता था; परन्तु डाइरेक्टरों के साथ वाजपेयीजी के सम्बन्ध शिथिल होते-होते अंत में उन्होंने इस्तीफा दे दिया और घर बैठ गए। मैंने वाजपेयीजी से बहुत प्रार्थना की कि आप हम लोगों को छोड़कर न जाएँ। आपका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता है तो आप काम न करें—काम हम लोग करेंगे; पर आप छोड़कर मत जाइए और आपने जो इस्तीफा दिया है, वह वापस लेने की-सी परिस्थिति उत्पन्न करने का काम हम लोगों का है; पर उस इस्तीफे से डाइरेक्टर लोगों के लिए उसे स्वीकार करने के सिवा कोई चारा नहीं रह गया था, यह बात मुझे पीछे मालूम हुई।"

इस तरह गर्देजी पर 'भारतमित्र' के सम्पादन का भार आ पड़ा। वह कहते हैं—"एक दैनिक पत्र की सम्पादकी मेरे गले पड़ी। मैं यह नहीं समझ सकता था कि इतने बड़े उत्तरदायित्व का कार्य मुझसे कैसे होगा?" आरंभ के कुछ दिन बड़ी चिंता में बीते। ६ महीने लगातार इतना कठिन परिश्रम गर्देजी ने किया कि शरीर बहुत दुर्बल हो गया और आँखें बिलकुल धँस गईं। नित्य नए विषय पर अग्रलेख लिखना, नित्य नवीन और सब प्रकार का

अध्ययन करना—यह बड़ी कठिन तपस्या थी। रात दो-दो बजे तक यह सब काम होता था। अंत में खाने पर से रुचि हट गई और नींद-में-नींद नहीं रही। विवश होकर उनको यह नियम करना पड़ा कि अब रात को कुछ पढ़ा नहीं जायगा!

दिन भर 'भारतमित्र' का काम और संध्या समय से रात्त बारह-एक बजे तक कांग्रेस का तरह-तरह का काम गर्देजी को करना पड़ता था; पर रात का पढ़ना बन्द करने से आँखों की शिकायत दूर हो गई। इस सब परिश्रम को करते हुए एक बात बहुत पीड़ा देने वाली यह हुई कि 'भारतमित्र' के ग्राहकों की संख्या दिन-दिन घटने लगी। पर शीघ्र ही ग्राहक-संख्या और बिक्री में वृद्धि हो गई। यह सब गर्देजी की लेखनी का चमत्कार था। 'भारतमित्र' में गर्देजी के वे लेख बहुत विद्वत्ता-पूर्ण होते थे। उन लेखों का अनुवाद लाहौर के उर्दू 'प्रताप' में, मद्रास के अंग्रेजी 'स्वराज्य' में और कलकत्ते के 'सरवेन्ट' में प्रकाशित होता था। स्व० पं० पद्मसिंहजी शर्मा 'भारतमित्र' के लेखों से बहुत प्रसन्न थे। उन्होंने एक पत्र लिखकर गर्देजी का काफी उत्साह बढ़ाया था। बिहार में तो 'भारतमित्र' बहुत ही लोकप्रिय हो गया था। लोग कहते थे कि "यहाँ के नेता हैं राजेन्द्र बाबू; पर यहाँ का पत्र है कलकत्ते का दैनिक 'भारतमित्र', जो यहाँ सब से अधिक पढ़ा जाता है।" यह भी उल्लेख्य है कि काशी के प्रख्यात दैनिक 'आज' का आरंभ में इतना प्रचार न था। उस समय काशी में 'भारतमित्र' की ही खपत होती थी; किन्तु जब से 'आज' बापू के असहयोग-आन्दोलन का समर्थन करने लगा, तब से विशेष चमका। उन दिनों साम्यवाद और गांधीवाद का 'भारतमित्र' ने काफी प्रचार किया। उसमें इस विषय की सब से अधिक खबरें छपती थीं; इसीलिए वह साम्यवादियों का विशेष प्रिय बन गया था। अंग्रेजों से द्वेष ही इसका

कारण था। यह सब होते हुए भी गर्देजी ने अपना सनातन धर्म कभी नहीं छोड़ा और आज भी यही बात है।

'भारतमित्र' की लोकप्रियता को देखकर ही लोगों ने उनको कांग्रेस में आमन्त्रित किया और सन् '२० की स्पेशल कांग्रेस के बाद बड़ा बाजार जिला कांग्रेस कमेटी का सर्व प्रथम अध्यक्ष बनाया। इसके पश्चात् वार्षिक निर्वाचन में भी उनके मुकाबिले में कलकत्ते के जो अच्छे-अच्छे विख्यात लोग खड़े थे, उन सब को गर्देजी को प्राप्त मतों की संख्या देखकर हैरान होना पड़ा था। अहिंसात्मक अवज्ञा का प्रस्ताव सब से पहले गर्देजी की अध्यक्षता में कलकत्ते की बैठक में स्वीकृत हुआ था। वहाँ के प्रायः सभी आयोजनों में वह सादर निमंत्रित किए जाते थे। इस प्रकार दैनिक पत्र का सम्पादन और एक जिला कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष की जिम्मेवारी—ये दोनों कार्य बहुत काल तक एक साथ चलते रहे। कांग्रेस के नाते जेल की भी सैर हुई और पत्रकार के नाते एक तपस्या भी। बड़ा बाजार कांग्रेस कमेटी का कार्य करते समय ही कांग्रेस के सिलसिले में उनको जेल-यात्रा का अवसर मिला। जेल के साथियों में स्वर्गीय राष्ट्रकवि पं० माधव शुक्ल, पं० अम्बिका-प्रसाद वाजपेयी, स्व० श्री मूलचन्द अग्रवाल, श्री पद्मराज जैन, श्री भोलानाथ वर्मन, श्री वसंतलाल मुरारका, श्री रामेश्वर जोशी के अतिरिक्त नेताजी सुभाषचन्द्र बोस, मौलाना अबुल कलाम आजाद और शायक मुहम्मद उस्मानी सरीखे लोग थे। ये सभी लोग अलीपुर सेन्ट्रल जेल में साथ थे।

उस समय की एक-दो और महत्त्वपूर्ण घटनाएँ भी उल्लेखनीय हैं। बापू के आन्दोलन के बाद कलकत्ते के काकीवाड़ा नामक स्थान में एक हिन्दू-मुस्लिम दंगा हुआ था। उस समय शांति-स्थापन के लिए गर्देजी ने भी अनेक प्रयत्न किए थे। हिन्दुओं

और मुसलमानों के प्रतिनिधियों ने मिलकर एक ऐसी रिपोर्ट लिखी थी, जिस पर मुसलमानों के हस्ताक्षर हुए थे और उन लोगों ने अपना सारा दोष स्वीकार किया था। यह उसकी सबसे बड़ी विशेषता थी। बाद में खिलाफत कमेटी के लोगों ने मुसलमानों को भड़काया, पर वे असफल रहे। गर्देजी ने बताया कि शांति-स्थापन के उस कार्य में दानवीर सेठ श्री युगलकिशोरजी बिड़ला (जो सदा राष्ट्र और जाति-सेवा तथा रक्षा में तत्पर रहे हैं) ने आर्थिक सहायता भी दी थी।

कलकत्ते में रहते हुए गर्देजी ने एक और महान् कार्य किया था। वह यह कि श्री जगन्नाथजी बढ़े के सहयोग से उन्होंने वहाँ 'राष्ट्रीय गो-रक्षा-मण्डल' की स्थापना की और हरिहर-क्षेत्र के मेले में आन्दोलन के माध्यम से गो-वध बन्द कराया। गो-वध-स्थल पर अब राधा-कृष्ण-मन्दिर सुशोभित है।

गर्देजी ने लगातार ६ वर्षों तक 'भारतमित्र' का सम्पादन किया। यह उनके जीवन का विशेष महत्त्वपूर्ण समय रहा है। वह कहते हैं—"यह ६ वर्ष की अवधि कोई बड़ी अवधि नहीं है, पर मेरे जीवन की सब से बड़ी चीज रही है।" सन् १९२५ में 'भारतमित्र' 'सनातन धर्म महामण्डल' के हाथ में चला गया। नए डाइरेक्टर-मण्डल ने गर्देजी पर जो नीति लादनी चाही, वह देश-हित की दृष्टि से उनको स्वीकार नहीं थी; इसलिए उनको बाध्य होकर 'भारतमित्र' से सम्बन्ध-विच्छेद करना पड़ा। गर्देजी का वह त्याग-पत्र 'भारतमित्र' के उस अंक का अग्रलेख है। वह लेख बड़ी चर्चा का विषय हो गया था और उसे पढ़कर लोगों के अश्रु निकल आए थे। उसमें गर्देजी ने 'भारतमित्र' की ४० वर्षों की तपस्या और पूर्व-परम्परा की याद दिलाते हुए बहुत भाव-पूर्ण चित्र खींचा था। उनके शब्दों में—"मैंने उसमें अपना सम्पूर्ण आशय प्रकट कर दिया था।"

'भारतमित्र' छोड़ने के बाद कलकत्ते से ही स्व०श्री चुन्नीलालजी वर्मन के सहयोग से गर्देजी ने 'श्रीकृष्ण-संदेश' निकाला था। वैसा आदर्श साप्ताहिक विचार-पत्र आज हिन्दी में नहीं दीखता। उल्लेख्य है कि 'श्रीकृष्ण-संदेश' ही प्रथम सचित्र हिन्दी-साप्ताहिक था। कुछ काल के बाद वह पत्र पूर्णतः गर्देजी के अधिकार में आ गया था और बाद में काशी आकर भी कुछ समय तक वह उसे निकालते थे; परन्तु घाटे के कारण बन्द कर देना पड़ा। 'श्रीकृष्ण-संदेश' के ग्राहकों का जो चन्दा वसूल हुआ था, वह 'विजय' साप्ताहिक देकर उन्होंने चुकता किया। यह पत्र स्व० श्री बैजनाथजी केडिया के सहयोग से गर्देजी ने कलकत्ते से निकाला था। पीछे सन् १९३१-'३२ में गर्देजी काशी लौट आए और तब से प्रायः यहीं वास करते हैं।

जब काशी से दैनिक 'सन्मार्ग' का प्रकाशन शुरू हुआ, तभी से करीब १–१॥ वर्ष तक गर्देजी उसमें लगातार 'चक्रपाणि' के नाम से विशेष लेख लिखते थे। स्वामी करपात्रीजी की नीति का पत्र होने पर भी उसके सम्पादक पं० गंगाशंकरजी मिश्र ने कभी गर्देजी की नीति पर आक्षेप या हस्तक्षेप नहीं किया। गर्देजी निःसंकोच कहते हैं—"उनकी इस उदारता को मैं भूल नहीं सकता। मैंने भले ही उनकी नीति के विरुद्ध भी लिखा, उनके विरुद्ध विचार प्रकट किए; पर उन्होंने उसका आदर किया। परन्तु पत्र की नीति का कुछ भाग ऐसा था अथवा यह कहिए कि मेरी नीति का कुछ भाग ऐसा था कि कहीं-कहीं दोनों की नीति टकरा जाती थी और ऐसी अवस्था बहुत दिन तक टिक नहीं सकती। इसलिए मुझे उससे अलग होना ही पड़ा।"

इसके बाद एक विशेष आशा लेकर गर्देजी ने लखनऊ के दैनिक 'नवजीवन' का सम्पादकत्त्व स्वीकार किया था; परन्तु वहाँ की व्यवस्था को वह एक प्रकार की दुर्व्यवस्था कहते हैं और वहाँ

उनका जो कुछ जीवन रहा, उससे कहीं अच्छा 'सन्मार्ग' का वातावरण स्वीकार करते हैं। वह वातावरण कम-से-कम शुद्ध तो था। 'सन्मार्ग' में गर्देजी बड़े प्रेम से लिखते थे और उन लेखों के लिए उनके चित्त में एक विशेष स्थान है। 'भारतमित्र' और 'श्रीकृष्ण-संदेश' के लेखों के प्रति भी वह बड़ी आस्था रखते हैं।

बहुत कम लोग जानते होंगे कि काफी समय तक काशी के दैनिक 'संसार' में भी गर्देजी अग्रलेख लिखते थे। उनके कथनानुसार उन लेखों में एक सांस्कृतिक और एक राजनीतिक—दो लेख विशेष महत्त्व के हैं। 'संसार' के लिए गर्देजी ने ऐसी बीमारी की अवस्था में लिखा और लिखाया था, जब वह अधिकतर २४ घण्टे चारपाई पर ही पड़े रहते थे। इससे स्पष्ट है कि उनके जीवन का प्रत्येक क्षण राष्ट्र और राष्ट्र-भाषा की—हिन्दी-पत्रकारिता की सेवा में व्यतीत हुआ है।

गर्देजी ने समय-समय पर गोरखपुर पधारकर 'कल्याण' के 'योगांक', 'संतांक', 'वेदान्तांक' तथा 'साधनांक' सरीखे सुप्रसिद्ध विशेषाङ्कों के सम्पादन में भी महत्त्वपूर्ण योग दिया है। अब भी कभी-कभी वह ऐसी कृपा करते हैं। गर्देजी के परम सुहृद श्रीहनुमान्प्रसादजी पोद्दार उन पर बहुत कृपा रखते हैं और तब से गर्देजी ने जो कुछ लिखा है, वह प्रायः 'कल्याण' के लिए ही लिखा है। 'गीता प्रेस' में गर्देजी का गीता-प्रवचन सुनने के लिए एक वर्ष तक विद्वान् और भक्त—दोनों की भीड़ होती थी। बरेली में भी यही हाल था। 'कल्याण' में और 'कल्याण' के अंगरेजी-संस्करण 'कल्याणकल्पतरु' में गर्देजी के कई महत्त्वपूर्ण लेख छपे हैं। अंग्रेजी-संस्करण के एक अङ्क में उन्होंने ऋषियों के बहुत सुन्दर चरित्र प्रस्तुत किए हैं।

गीता प्रेस के अतिरिक्त श्री अरविन्द-आश्रम से भी गर्देजी का

संबंध रहा है। वहाँ से उनके 'योग-प्रदीप' तथा 'गीता-प्रबन्ध'—ये दो अनुवाद निकले हैं। वह कहते हैं—"श्री अरविन्द के कुछ ग्रन्थों के अनुवाद-रूप से जो कुछ भगवद्-सेवा बन पड़ी, करने का प्रयास किया है।" उनके अन्य अनुवादित ग्रंथ—'ज्ञानेश्वर', 'एकनाथ' और 'तुकाराम' के चरित्र गीता प्रेस से प्रकाशित हुए हैं। उनके दो उपन्यास—'नकली प्रोफेसर' तथा 'मियाँ की करतूत' भी काफी लोकप्रिय हुए। 'महाराष्ट्र-रहस्य', 'सरल गीता' तथा 'जापान की राजनीतिक प्रगति' की चर्चा पहले हो चुकी है। इनके अतिरिक्त 'श्रीकृष्ण-चरित्र', 'एशिया का जागरण', 'गांधी-सिद्धान्त', 'आरोग्य और उसके साधन', 'श्री अरविन्द-योग', 'जेल में चार मास' आदि भी उल्लेखनीय ग्रंथ हैं। 'गांधी-सिद्धान्त' राष्ट्रपिता बापू की 'स्वराज्य' पुस्तक का अनुवाद है। राजाजी के अंगरेजी-अनुवाद से इसका हिन्दी-अनुवाद गर्देजी ने किया है। इसकी प्रस्तावना स्वयम् बापू ने लिखी और इसके लिए गर्देजी ने प्रयाग से लेकर गुजरात तक और गुजरात से बम्बई तक बापू के साथ यात्रा की थी और यह कार्य बम्बई में पूरा हुआ था। इन ग्रंथों के अतिरिक्त गर्देजी के साहित्यिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा संस्मरणात्मक अनेक लेख पत्र-पत्रिकाओं में बिखरे पड़े हैं और प्रायः छपते रहते हैं। कुछ समय तक गर्देजी ने प्रयाग के 'अभ्युदय' का भी सम्पादन किया था। उन दिनों 'आज' और 'अभ्युदय' में होड़ चलती थी। इधर पराड़करजी थे और उधर गर्देजी।

यों तो गर्देजी अपनी राय ही सर्वोपरि मानते हैं, "सुनिए सब की, करिए मन की" वाले सिद्धांत के अनुयायी हैं; पर जीवन में कुछ अवसर ऐसे भी आए, जब दूसरों की राय उन्होंने अपना ली। उनका कहना है—"मैं रहस्यवाद या छायावाद के संबंध में न तो कुछ जानता था और न अब जानता हूँ; लेकिन इस विषय में

हिन्दी के प्रसिद्ध कवि श्री रघुवरदयालुजी ने एक स्थान पर मुझे रहस्यवाद का मर्मज्ञ माना है; पर मैं कुछ जानता नहीं हूँ। स्व० पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी आदि मित्रों की राय की भाँति ही मेरी राय भी वैसी बन गई। अब वह राय बदल रही है।"

दूसरी घटना पाण्डेय श्री बेचन शर्मा 'उग्र'जी की पुस्तकों के सम्बन्ध में है। वह कहते हैं—"उग्रजी की पुस्तकें मैंने पढ़ी नहीं, यह मैंने उनके साथ बड़ा अन्याय किया है। इस विषय में पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के प्रभाव से ही मेरी राय वैसी बन गई थी और यह बात मैंने 'श्रीकृष्ण-संदेश' में लिखी भी थी कि चतुर्वेदीजी ऐसा कहते हैं।" परन्तु सब विषयों में ऐसा नहीं है। असहयोग-आन्दोलन के समय उसके विरोध में विश्वकवि श्री रवीन्द्रनाथ-ठाकुर और स्व० महामना मालवीयजी ने अलग-अलग गर्देजी को समझाया था; पर उस विषय में उनकी राय नहीं मेल खा सकी। जब दीनबंधु श्री सी० एफ० एण्ड्रूज गर्देजी को साथ लेकर रवि बाबू के पास पहुँचे, उस समय की अपनी मनोवस्था का वर्णन करते हुए गर्देजी ने मुझसे कहा—"रवि बाबू के चेहरे और कमरे का प्रभाव तो मुझ पर पड़ा ही, वह धीरे-धीरे इतने ऊँचे चढ़ने लगे कि मेरे लिए उतना ऊँचा चढ़ना असम्भव हो गया; पर मैंने असहयोग-आन्दोलन के समर्थन में उनको अपने विचार समझाने का प्रयत्न अवश्य किया। श्री एण्ड्रूज ने भी मेरा ही समर्थन किया।"

मालवीयजी महाराज ने गर्देजी से पूछा था—"आप संध्या करते हैं न?" उत्तर था—"हाँ।" तब मालवीयजी ने कहा—"उसी समय एकान्त में शांत चित्त से खूब अच्छी तरह विचार कीजिए, तब निर्णय कीजिए।" उत्तर में गर्देजी ने कहा था—

"मैंने इसी प्रकार विचार किया है और सदा करता हूँ।" ऐसी है उनकी दृढ़ता !

गर्देजी के सहयोगी श्री विश्वंभरनाथजी जिज्जा ने कई बार उनसे स्व० श्री जयशंकरप्रसादजी के यहाँ साथ चलने का अनुरोध किया; पर संयोगवश गर्देजी उनके साथ न जा सके। वह गर्देजी और प्रसादजी के गीता-विषयक पारस्परिक विचार एक-दूसरे के पास पहुँचाते, जो भिन्न थे। इसी प्रसंग में गर्देजी कहने लगे—"प्रसादजी एक बड़ी प्रतिभा लेकर हिन्दी में आए थे। मैं उनका महत्त्व स्वीकार करता हूँ। वह खड़े-खड़े बातें किया करते और बड़े प्रेम से मिलते। हम लोग बैठक में पुनः मिलने का निश्चय करते थे; किन्तु दिन और रात रोज मिलते हैं, पर कभी एक साथ नहीं रहते।"

गर्देजी 'बिहार-पत्रकार-सम्मेलन' तथा 'काशी-पत्रकार-संघ' के अध्यक्ष रह चुके हैं और पराड़करजी के बाद से 'राष्ट्रकवि परिषद्' के स्थायी अध्यक्ष हैं। प्रसंगवश मैंने गर्देजी से अपना संदेश देने की प्रार्थना की, तब वह बोले—"एक बार काशी में 'नेशनल हेरल्ड' के भूतपूर्व सम्पादक श्री रामराव ने पत्रकारों को उपदेश देते हुए अन्त में सार-रूप से कहा था—"बी ट्रू टू योर सेल्फ"—अपने प्रति सच्चे रहो। जो 'राम' का संदेश है, वही 'लक्ष्मण' का संदेश है।